राष्ट्रीय जीवनी

श्री
नारायण गुरू

श्री नारायण गुरू

लेखक

मुर्कोट कुन्नहप्पा

अनुवादक

डॉ० धर्मपाल गाँधी
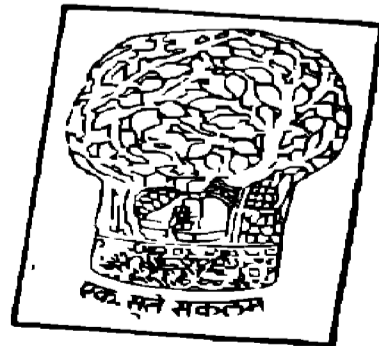
नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया

आमुख

मैंने संसार के विभिन्न भागों की यात्रा की है। इस यात्रा में मुझे अनेक संत और ऋषियों से मिलने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। परन्तु, यह सत्य है कि मुझे कोई ऐसा आध्यात्मिक व्यक्तित्व नहीं मिला जो केरल के श्री नारायण गुरू से महान हो। और न ही कोई ऐसा व्यक्तित्व मुझे ऐसा मिला है जिसने इनके समान आध्यात्मिक सिद्धि प्राप्त की हो।

मुझे विश्वास है कि मैं उस तेजस्वी व्यक्तित्व को कभी नहीं भूल सकता जो दैवी आलोक के स्वप्रकाश से दैदीप्यमान हो। मैं उन योगी नेत्रों को भी नहीं भूल सकता जो दूर क्षितिज में स्थिर अनिमेष भाव से स्थिर थीं।"

—रवीन्द्रनाथ ठाकुर

रोमां रोलां के अनुसार

श्री नारायण गुरू की शिक्षा शंकराचार्य के दर्शन से प्रभावित है। वे वास्तविक अर्थ में कर्मज्ञानी एवं धर्मवेत्ता थे। उन्हें व्यक्ति पर और समाज में हो रहे शोषण ा भी पूरा आभास था। उन्होंने दक्षिण भारत में दलित वर्ग—जो लगभग बीस लाख के करीब थे—के उत्थान के लिए बहुत बड़ा योगदान दिया था। इतना ही नहीं उनके समाज सुधार के कार्यों को कभी-कभी गाँधी जी के कार्यों के साथ भी जोड़ा जाता है।

गाँधी, नारायण गुरू को सदैव पुण्यात्मा श्री नारायण गुरू कहा करते थे। वह हरिजन उत्थान के कार्यों में गुरू के विचारों को अपनाया करते थे।

आज के विश्व में, और विशेषकर भारत के संदर्भ में, श्री नारायण गुरू का जीवन, उनके संदेश एवं उनके कृतित्व अपना विशेष महत्त्व रखते हैं।

गुरू, शंकराचार्य की भाँति अद्वैतवादी होते हुए भी उनसे भिन्न थे। आचार्य ने सोलह वर्षों की अवधि तक जो अद्वैत दर्शन का प्रचार और उसकी स्थापना की वह आध्यात्मिक जगत् को भारत की महान् देन थी। इस अवधि में उन्होंने

एक ऐसे शिक्षित वर्ग को पैदा किया जिसने उनकी परंपरा को आगे बढ़ाया। गुरू ने उसी परंपरा को निर्वाह करते हुए एक कर्मज्ञानी की भाँति उसका लाभ जन-साधारण को दिया।

आधी सदी से भी कम समय में उन्होंने केरल की पददलित जातियों को ऊपर उठाया। उन्हें स्वाभिमानी व्यक्ति की तरह अपने पाँव पर खड़ा होना सिखाया। उन्हीं के प्रयत्नों से वे आज सड़कों पर स्वतंत्र रूप से घूम-फिर सकते हैं। 1925 में अछूतों के लिए मन्दिरों को जाने वाली सड़कें बंद कर दी गई। उनके लिए मन्दिरों में जो प्रवेश की मनाही थी वह 1936 में गैरकानूनी घोषित कर दी गई। देश के अन्य भागों की अपेक्षा यह घोषणा केरल में वर्षों पहले हो गई थी।

एक समय जहाँ इनको स्कूलों में प्रवेश नहीं मिलता था वहाँ, 1947 से पहले दो-तीन दशाब्दियों में ही उन लोगों को मुक्त रूप से प्रवेश मिलने लगा और इन लोगों ने दर्जनों कॉलेज, हाईस्कूल तथा अन्य शिक्षा संस्थायें स्थापित कीं। 1885 में जब स्वामी जी ने अपना अभियान चलाया था उस समय सरकारी नौकरी में निम्न जाति का एक भी व्यक्ति जिसे पाँच रुपये भी तनख्वाह मिलती हो, नहीं था। 1947 तक आते-आते इनमें से बहुत से लोग सरकारी सेवा में आ गये और कई लोग तो उच्च पदों पर भी थे।

इस प्रेरणा और उन तथ्यों के साथ-साथ निम्न जातियों में साहित्यिक, कलात्मक एवं शैक्षिक प्रतिभा को सामने लाने में निस्संदेह काफी सहायता मिली। इनके समर्थन में कवि, संपादक, निबन्धकार, उपन्यासकार, कहानीकार, प्रोफेसर प्रिंसिपल आदि सामने आये और इन्हें सम्पूर्ण केरल में सम्मानजनक दर्जा दिलाने में सहायता की।

गुरू ने धार्मिक अनुष्ठानों, सामाजिक रीति-रिवाजों और जनसामान्य के दैनिक दिनचर्या के सुधार में समस्त प्रगति का मूल माना। अद्वैतवादियों का कहना है कि सभी पथ एक ही लक्ष्य में जाकर मिल जाते हैं। गुरू ने उसमें एक संशोधन करते हुए कहा है हर आदमी का सफर वहीं से शुरू होता है जहाँ से वह अपने आपको उस पथ के उपयुक्त पाता है। एक चीनी किंवदंति के अनुसार जीवन की सबसे लम्बी यात्रा आदमी (जब चलना सीखता है तो उसके पहले कदम से शुरू होती है। उन्होंने भी अपनी यात्रा उसी कदम से शुरू की थी और सम्पूर्ण जीवन-पथ पर अपने शिष्यों का अपने उपदेशों, सामाजिक प्रथाओं में सुधार, विभिन्न प्रकार के मन्दिरों के निर्माण और इन सबसे ऊपर आडंबर रहित आध्यात्मिक रचनाओं से मार्ग ज्योतित किया।

जिन्होंने बहुत समय से अपने निहित स्वार्थों के लिए आम आदमी के अधिकारों को हथिया रखा था, इन्होंने उन लोगों के खिलाफ कुछ नहीं कहा। उन्होंने अपने

अनुयायियों को यह भी समझाया कि वे अन्य धर्मानुयायियों की भावनाओं को ठेस न पहुँचायें और न ही किसी की निन्दा करें। इसका परिणाम यह हुआ कि उच्च जाति के मुक्त विचार वाले नेताओं ने उनका आदर किया और पददलित वर्ग के उत्थान के आन्दोलन में उनका साथ दिया। यहाँ तक कि कुछ तो इस उद्देश्य के लिए जेल तक गये। और एक बार हजारों लोग सौ किलोमीटर पैदल चलकर ट्रावनकोर के महाराजा के पास भी गये कि जिससे इन लोगों को मन्दिरों के आसपास जाने की स्वतन्त्रता मिल सके। उनके बहुत से संन्यासी अनुयायी तो ब्राह्मण और अन्य उच्च वर्गों से आये थे।

उन्हें इस क्रान्ति में बिना किसी खून-खराबे के सफलता मिली।

विश्व में जहाँ भी पददलित एवं अधिकारहीन लोग हैं उनके लिए गुरू का संदेश है—"शिक्षित हो जाओ ताकि तुम्हें स्वतन्त्रता मिल सके। अपने आपको संगठित करो ताकि तुम शक्तिशाली हो सको। परिश्रम करो ताकि तुम्हारी आर्थिक स्थिति सुधर सके।" उनका यह संदेश सार्वकालिक है।

वस्तुत: ये सभी बातें इस दृढ़ धार्मिक विकास पर आधारित होती हैं कि परमात्मा एक है हम सब उसी के विभिन्न रूप हैं। जैसे हर आदमी का चेहरा दूसरे से भिन्न होता है फिर भी किसी को इस बात का संदेह नहीं होता कि हम सब मानव हैं और हम सब उसी परमात्मा की संतान हैं।

गुरू का अद्वैत दर्शन पारस्परिक सहयोग और एकत्व की भावना को मानव की वस्तुवादी एवं विषयासक्ति की प्रवृत्ति से बचायेगा।

संयुक्त राष्ट्र संघ एवं अन्य विश्व संस्थाओं को यदि अपने उद्देश्य में सफलता प्राप्त करनी है तो "एक जाति, एक धर्म एवं एक ईश्वर" के संदेश में व्यावसायिक प्रवृत्ति नहीं लानी चाहिए। श्री नारायण गुरू का संदेश सार्वकालिक और सार्वभौमिक दृष्टि से प्रासंगिक और अर्थपूर्ण है।

मुर्कोट कुन्नहप्पा

विषय-सूची

अध्याय 1

जन्म और शैशव

श्री नारायण गुरू का जन्म 1856 ई० में तत्कालीन भारतीय रियासत ट्रावनकोर की राजधानी त्रिवेन्द्रम से 12 किलोमीटर दूर चेम्बाजनती नामक छोटे से कस्बे में हुआ था। आज त्रिवेन्द्रम केरल की राजधानी है। यह भारत के भव्यतम प्रदेशों में से एक है। यह भारत के दक्षिण-पश्चिम में स्थित है। इसके पूर्व में पश्चिमी घाट तथा पश्चिम में अरब की खाड़ी है जो भारत की सीमा का काम भी करती है।

नायर एवं ऐजावा केरल की दो प्रमुख जातियाँ हैं। वर्ण प्रथा के अनुसार नायर उच्च स्थान प्राप्त शूद्र थे। अत: सवर्ण जाति समूह के अन्तर्गत आते थे, जबकि ऐजावा असवर्ण, अस्पृश्य एवं अनुपागम माने जाते थे। श्री नारायण गुरू ऐजावा जाति में पैदा हुए थे।

उस समय ऐसा माना जाता था कि कोई भी सवर्ण, ऐजावा से 32 फुट की दूरी से सम्पर्क में आने पर भी अशुद्ध हो जाता था। वर्ण प्रथा की उच्चता के अनुसार यह अशुद्धि दूरी बढ़ती जाती थी और अन्तत: ऐजावा से 32 फुट की दूरी एक ब्राह्मण को अशुद्ध कर देती थी। इसी प्रकार यह दूरी ऐजावा जाति से निम्न वर्णों के लिए उनकी जाति के आधार पर क्रमश: बढ़ती जाती थी। इन असवर्णों के प्रति किये गए दुर्व्यवहार इतने भयावह एवं असंगत होते थे कि इन सबको देखते हुए स्वामी विवेकानन्द ने एक बार केरल को 'भारत के पागलखाने' की संज्ञा दे डाली।

इतना सब होने पर भी उनके पागलपन में उनकी अपनी जीवन पद्धति और तौर-तरीके थे। इन जाति प्रथा के बंधनों के कुछ अपवाद भी थे जिन्होंने केरल को कुतूहल उत्पन्न करने वाला भारतीय राज्य बनाये रखा। श्री नारायण गुरू के जन्म स्थान पर ही इस बात के प्रमाण मिलते हैं कि नायर और ऐजावा इस दूरी सम्बन्धी भेद को बनाये रखते हुए भी एक दूसरे के साथ मिलजुल कर काम करते

थे। ऐजावा जनसंख्या में अधिक, कृषि प्रधान एवं व्यवसाय से ताड़ी निकालने वाले थे। ये बुरे समय में भी गाँव के मुखिया का पूरा साथ देते थे। इस निकटता का एक दूसरा उदाहरण भगवती का वह मंदिर है जो नारायण गुरू के जन्म स्थान से कुछ ही दूर है और जहाँ नायर एवं ऐजावा दोनों मिलकर उत्सव मनाते थे। इस तीर्थ मंदिर के दोनों तरफ बने दो चबूतरे इस बात का प्रमाण हैं कि इन पर एक ओर ऐजावा और दूसरी ओर नायर बैठकर धार्मिक अनुष्ठान करते थे।

गौशाला

उनके जन्म स्थान के पास ही एक झोपड़ी है जिसे देखकर गुहाल (गौशाला) का भ्रम हो सकता है। इस जीर्ण-शीर्ण झोपड़ी के तीन कमरों में वायु और प्रकाश का एकमात्र रास्ता तीन शलाखों से ही है जो आँगन में लगी हैं। इसी झोपड़ी में नारायण गुरू का जन्म हुआ था। उनके पिता का नाम मदन और माता का नाम कुट्टी था। पिता व्यवसाय से अध्यापक एवं वैद्य थे।

उस समय जब ऐजावा मात्र अछूत ही नहीं अपितु अवांछनीय एवं पद्दलित भी माने जाते थे, बहुत से ऐसे ऐजावा थे जो आयुर्वेदिक पद्धति, जिसका सम्पूर्ण साहित्य मात्र संस्कृत में ही उपलब्ध है, से इलाज करते थे। यह इस बात का प्रमाण है कि ऐजावाओं में उच्च कोटि के संस्कृतज्ञ भी थे। वस्तुत: केरल का सम्पूर्ण भू-भाग ऐजावा वैद्य एवं संस्कृतज्ञों से भरा है। अत: कहा जा सकता है कि जन-साधारण में आयुर्वेद एवं संस्कृत को जीवित रखने का श्रेय इन्हीं ऐजावा वैद्यों को ही है। यह सच है कि संस्कृत एवं आयुर्वेद जैसे शास्त्रों के आगार नम्बूदरी ब्राह्मण ही थे किंतु एक तो वे संख्या में कम थे और दूसरे साधारण व्यक्ति की पहुँच इन लोगों तक नहीं थी।

श्री नारायण गुरू के मामा बहुत बड़े संस्कृतज्ञ एवं वैद्य थे। उनमें से कृष्ण वाडियार आश्न अर्थात् अध्यापक भी थे। एक समाजसुधारक के नाते उन्होंने अपनी जाति के उत्थान के लिए कठोर प्रयत्न तो किए किंतु ऐजावा से नीचे की जातियों की जानबूझकर उपेक्षा करके उन्हें अपने स्थान पर ही बनाये रखा। अस्पृश्यता एवं त्याज्यता किसी भी जाति के लिए तब तक अभिशाप नहीं होती जब तक ये लक्षण उससे निम्नवर्ग पर लागू नहीं होते।

बालोचित शरारतें

जैसे स्वामी विवेकानन्द, रामकृष्ण परमहंस के परम शिष्य थे उसी प्रकार श्री-नारायण गुरू महाकवि कुमारन आश्न के शिष्य थे। महाकवि कुमारन आश्न ने श्रीनारायण गुरू···जिन्हें वे प्यार से नानू कहते थे···के विषय में लिखा है कि नानू

बहुत शरारती लड़का था। कुमारन आइन्न द्वारा बतायी गई घटनाएँ बहुत ही महत्त्वपूर्ण एवं उल्लेखनीय हैं। नानू की शरारतों का उल्लेख करते हुए वे कहते हैं कि नानू किसी निम्न जाति के व्यक्ति का स्पर्श करके घर के किसी परम्परावादी व्यक्ति को छूकर उसे अशुद्ध करने में बहुत आनन्दित होता था। इसी प्रकार देवताओं के चढ़ावे के लिए रखे गए फल एवं मिष्ठान पर झपटा मारना उसके लक्ष्यों में से एक होता था। वह उसको मज़े से खाता और कहता "यदि मैं संतुष्ट होऊंगा तो भगवान भी प्रसन्न होगा।"

ये थीं नानू की कुछ बालोचित शरारतें। आगे चलकर यही नानू अद्वैतवादी हो गए।

उनके एक और समसामयिक मुलूर एस० पद्मनाभ पन्निकर, जो नानू को अच्छी तरह जानते थे, कहते हैं कि नानू मे गरीबों और दलितों के प्रति जन्मजात सहानुभूति, सांसारिकता के प्रति विरक्ति एवं छुटपन से ही धार्मिक प्रवृत्ति भी थी।

एक शाम जब वे दूसरे बच्चों के साथ स्कूल से घर आ रहे थे तो उन्होंने राह चलते एक संन्यासी को देखा। उसके गेरूवे वस्त्र, लंबी दाढ़ी एवं बिखरे हुए केशों को देखकर बच्चों को बड़ा कुतूहल हुआ। उन बच्चों ने उस संन्यासी का उपहास उड़ाया, उसे छेड़ा और उस पर पत्थर तक फेंके। नानू से यह सब न देखा गया किंतु वह इतना बड़ा न था कि वह दूसरों को संन्यासी को परेशान करने से रोक सकता। उन्हें यह समझा सकता कि जो कुछ वे कर रहे है वह गलत है। अत: जब वह और कुछ न कर सका तो उसने जोर-ज़ोर से रोना शुरू कर दिया। यह देखकर-अन्य सभी बच्चे स्तंभित रह गए। संन्यासी ने जब उसे रोता देखा उसके पास जाकर सान्त्वना दी और फिर कंधे पर उठाकर नानू को उसके घर ले गए। शेष बच्चे हतप्रभ, विमूढ़ तथा अपराधी की भाँति उनके पीछे चलते रहे।

दार्शनिक विचारों में वे अपनी उम्र से कहीं अधिक आगे निकल चुके थे। अपने से बड़ों के साथ, जिस आत्म-विश्वास से वे दार्शनिक विषयों पर तर्क करते थे उससे सभी स्तब्ध रह जाते थे। प्राय: वे अपने विचारों में ही खोये रहते थे। ऐसा लगता था कि वे उस समय उन सब गुत्थियों को सुलझा रहे हों जिनका समाधान उनसे बड़ों के पास भी न था। ये गुत्थियाँ उन्हें बहुत अधिक विचलित करती थीं।

जब वे छ: वर्ष के ही थे तो उनके घर में रहने वाले किसी निकट संबन्धी की मृत्यु हो गयी। दाह संस्कार के अगले ही दिन नानू को घर में न पाकर पूरा परिवार बहुत दुखी हुआ। नानू को हर जगह खोजा गया परंतु सब बेकार रहा। सूर्यास्त हो चुका था और अब भी नानू घर नहीं लौटा था। जब सभी घर वाले ढूंढते-ढूंढते थककर हतोत्साहित एवं किंकर्तव्यविमूढ़ होकर बैठ गए तभी एकाएक खेतों से आये एक हरिजन ने हाँफते हुए कहा कि उसने नानू को जंगल में छिप

कर बैठे हुए देखा है ।

नानू के मामा-मामी, भतीजे और सब लोग यह सुनते ही उस ओर भाग खड़े हुए और उसे अपनी बाहों में भरकर घर ले आये । जब कुतूहलपूर्वक उन्होंने नानू से जंगल में जाने के बारे में पूछा तो उसने उत्तर दिया···

"दो दिन पहले चाचा की मृत्यु हुई तो सब रो-धो रहे थे किंतु थोड़े ही समय में सबके मुख पर प्रसन्नता, हँसी मज़ाक कैसे लौट आयी और सारा दुख एकाएक कैसे समाप्त हो गया ? इसी सबने मुझे सबसे अलग, अकेला, जंगल में जा छुपने के लिए प्रेरित किया था ।

यह सुनकर सब अवाक् रह गये क्योंकि वे उसे मृत्यु एवं दुःख का रहस्य समझाने में असमर्थ थे। वे यह भी न समझा सके कि किस प्रकार समय दुःख के घावों को भर देता है । वस्तुतः यह छः साल का नन्हा बच्चा इसी रहस्य से जूझने के लिए एकान्त जंगल में चला गया था ।

अध्याय 2

शिक्षा

नानू की शिक्षा पाँच वर्ष की आयु में ही प्रारंभ हो गयी थी। उनके गुरू चेम्बाजनती मूता पिल्ले जो अपने इलाके के बहुत बड़े विद्वान, ज्योतिषाचार्य, उच्च आदर्श सम्पन्न एवं जाने माने सवर्ण थे, के द्वारा हुई थी।

उन दिनों संस्कृत भाषा का, जो कि कभी-कभी ब्राह्मी लिपि में लिखी जाती थी, साधारण ज्ञान ही शिक्षा का उद्देश्य माना जाता था। नारायण अध्ययन में बहुत कुशाग्र बुद्धि थे। उन्हें एक बार जो कुछ सिखा दिया जाता था वे उसे कभी नहीं भूलते थे। संस्कृत काव्य के आधारभूत अध्ययन के पश्चात् उस प्राथमिक विद्यालय में उच्च शिक्षा के लिए कोई प्रबंध नहीं था। अत: नारायण के मामा अपने भांजे को खाली समय में घर पर ही पढ़ाते रहे। कुशाग्र बुद्धि नारायण को पढ़ाने का अपना ही आनंद था। कृष्ण वाडियार उनकी बालप्रौढ़ता से प्राय: चकित रह जाते थे।

नानू को उच्च शिक्षा दिलवाने के लिए न तो आसपास कोई विद्यालय ही था और न ही उसे दूर गुरुकुल में भेजना भी संभव था, क्योंकि वह बहुत छोटा था।

ग्वाला

अत: नारायण ग्वाला बन गया। वह नजदीक के पहाड़ों और जंगलों में अपने एकाकीपनका आनन्द लेते रहता और उसकी गायें आराम से इधर-उधर चरतीं और विश्राम करती रहती। विचारों में खोया यह ग्वाला, काजू के पेड़ों पर बैठकर, सीखे हुए श्लोकों का पाठ करता रहता और उनके अर्थों को जीवन में खोजता रहता

इसे बीच मामा कृष्ण वाड्यिार द्वारा घर पर उसकी शिक्षा निर्विघ्न चलती

रहो। अपनी कुशाग्र बुद्धि एवं अद्भुत ग्रहण शक्ति के कारण नारायण प्रतिदिन अपने मामा को हतप्रभ करता रहा।

कुछ समय पश्चात् नारायण को खेती-बाड़ी का काम सौंप दिया गया। विचारों में निमग्न, जीवन के सुख-दुख एवं मृत्यु आदि के रहस्यों को सुलझाने में व्यस्त यह बाल तत्वज्ञानी बैलों की ओर से एकदम निर्पेक्ष रहता। वह न तो उन्हें निर्दिष्ट मार्ग पर चलाने के लिए मारता-पीटता था और न ही उसे इस बात की चिन्ता होती थी कि वे कहाँ जा रही हैं।

नानू भक्त

उसकी गृहस्थ के प्रति निर्लिप्तता की भावना ने देश-देशान्तर में घूमने की इच्छा को और प्रबल कर दिया। वह प्रायः कईक्कर, त्रिवेन्द्रम्, अनचुतेंगु, वैन्नियोड, नेटुगंदा आदि विभिन्न स्थानों पर अपने मित्रों एवं रिश्तेदारों के यहाँ जाकर रह जाता। उसे कभी किसी एक स्थान पर टिक कर रहना पसंद न था। अतः वह अविश्रान्त भाव से सदैव चलनशील रहता।

वह स्नान एवं प्रार्थना में बहुत नियमित था। प्रायः माथे पर भस्मी रमाये, विचारों में निमग्न उसका बाह्य व्यक्तित्व लोगों को बहुत आनंदित करता था। लोग उसे ताना देते हुए भक्त कहकर संबोधित करते थे। भक्त कहकर जैसे वह यह कहना चाहते थे कि यदि कोई सनकी व्यक्ति है—जैसे कि प्रायः ऐसे व्यक्तियों के संबंध में कहा जाता—तो यही है। उसके संबंधी इसे ऐसी धार्मिकता का लक्षण समझते थे जो शादी के बंधन के बाद स्वयंएव तिरोहित हो जाती है। नाई, जो उन दिनों विवाह आदि संबंध जोड़ने का काम करता था उसे भी नानू के शिला समान अडिग संकल्प के सामने सफलता न मिली क्योंकि उसकी अविचल भक्ति ऐसी निश्चल थी जिसको भौतिक आकर्षण लुभा नहीं सकते थे।

चेचक

जब नानू के मामा अपने आध्यात्मिक कल्पनाजगत् में खोए तथा सांसारिक भोगों से निस्पृह भतीजे के भविष्य के बारे में सोच ही रहे थे उसी दौरान नानू कहीं गायब हो गया था। इस बार किसी को भी उसके लिए विशेष चिंता नहीं हुई क्योंकि सब ने यह मान लिया था कि वह हमेशा की भाँति इस बार भी अपनी रहस्यपूर्ण खोज के लिए कहीं चला गया है।

वस्तुतः ऐसा न था। उसे चेचक निकल आयी थी। किसी को बताये बिना नानू जंगल में स्थित देवी के मंदिर में चला गया था। विशिष्ट अवसरों और वार्षिक उत्सवों पर पूजा करने के अतिरिक्त इस मंदिर में कभी कोई नहीं आता

था। परिणामतः किसी को भी इस बीमार बालक के बारे में कुछ मालूम नहीं हुआ।

असहनीय सरदर्द के साथ उसका ज्वर बढ़ता ही गया। चेचक अपने पूरे उभार पर थी। वह कमजोरी, प्यास, दर्द एवं बेचैनी से संत्रस्त था। फिर भी वह उसी भयावह एकांत में डटा रहा। वह अपने नियमित स्नान, पूजा एवं ध्यान में ही समय बिताता रहा। रात का अंधेरा जब उसके चेचक के दागों को अपने आँचल में छिपा लेता तो वह चद्दर से सिर ढक भिक्षा के लिए उन घरों की ओर निकल पड़ता जहाँ उसे कोई नहीं जानता था। इस प्रकार भिक्षा लेकर वह पुनः मंदिर में ही लौट आता। इतने सब कष्टों के होते हुए, उसने इसी दौरान 16वीं शताब्दी के, केरल के प्रसिद्ध विद्वान भलपुत्तर नारायण भट्टातिरी की आध्यात्मिक अलगाव विषय पर लिखी पुस्तक को कंठस्थ किया।

अट्ठारह दिन की इस तपस्या के पश्चात् वह ठीक हो गया। उसने स्नान किया और घर लौट आया। भांजे को आया देख मामा बहुत प्रसन्न हुए किंतु जब उन्होंने उसके मुंह पर चेचक के दाग देखे तो वे आतंकित रह गए। जब नानू ने यह बताया कि उसे चेचक निकल आयी थी और इस बीच वह मंदिर में रहा जिससे घर के किसी दूसरे सदस्य पर उसका कोई दुष्प्रभाव न पड़े और न ही किसी दूसरे को उसके कारण कष्ट हो तो यह सुनकर उसके मामा अवाक् रह गये। इतनी छोटी-सी उम्र में ही बच्चे के इस विषम व्यक्तित्व को देखकर उसके मामा स्तब्ध हो गए। अतः उन्होंने सोचा "इस अद्वितीय, दृढ़प्रतिज्ञ बच्चे को ग्वाले या खेतिहर की भाँति अपना जीवन बरबाद नहीं करना चाहिए। इसे तो उच्च शिक्षा दी ही जानी चाहिए।" जैसे जीवन में अक्सर होता है किसी निश्चय को फलीभूत करने के लिए कोई संयोग बन जाता है ठीक ऐसा ही यहाँ भी हुआ।

उच्च शिक्षा

वैसे तो उन दिनों कृष्ण वाडियार उच्च कोटि के विद्वान थे किन्तु एक दिन वे संस्कृत के एक श्लोक को जिसे उन्होंने पहली बार पढ़ा था न समझ सके। नानू भले ही उम्र में छोटा था पर यह सोचकर कि शायद यह बच्चा इसका अर्थ निकाल सके उन्होंने उससे उसका अर्थ पूछ ही लिया। जितनी सहजता से नानू ने उस श्लोक का अर्थ बताया उससे वे बहुत प्रसन्न हुए। उसी समय वाडियार ने यह निश्चय किया कि किसी भी कीमत पर नानू को उच्च शिक्षा के लिए बिना और समय खोये भेजा जाए। तदनुसार उन्होंने उसके लिए व्यवस्था भी की।

इस प्रकार 1876 में नारायण को पुनः एक विद्वान एवं सवर्ण गुरू के पास जिनका नाम करुणागप्पली था, शिक्षा के लिए भेजा गया। जाते समय उसके मामा

ने नानू को कुछ पैसे देने चाहे किन्तु उसने यह कहकर कि उसे पैसे की आवश्यकता नहीं है और साथ ही उसके मामा उससे एवं अपने पैसे से एक साथ बिछुड़े यह भी अनुचित होगा, सोचकर पैसे लेने से इंकार कर दिया। करुणागप्पली के आश्रम में बहुत से ऐजावा युवक इस कुलीन गुरू से शिक्षा प्राप्त कर रहे थे।

वर्ण भेद को यहाँ भी नकारा नहीं गया था। परिणामतः जहाँ नाय्यर बच्चे गुरू के आश्रम में रहते थे वहाँ ऐजावा को आश्रम से बाहर रहना पड़ता था। करुणागप्पली के आश्रम में उस समय वरनप्पली नामक एक समृद्ध एवं उदार परिवार था जो अपनी जाति-ऐजावा—के शैक्षिक उत्थान के प्रति चिंतित था। उस समय समृद्ध ऐजावा परिवारों में प्रतिभा-संपन्न विद्यार्थियों की सहायता करने की प्रथा प्रचलित थी जिससे वे उन सवर्णों के साथ रहकर पढ़ सकें जिनके साथ रहना वर्जित था। वरनप्पली का घर एक ऐसा ही घरनुमा छात्रावास था जहाँ बहुत से ऐजावा रहकर गुरू करुणागप्पली से शिक्षा ग्रहण करते थे। नारायण के छात्रावास के सहपाठी ऐजावाओं मे से ही कुछ आगे चलकर बहुत प्रसिद्ध हुए। अतः यहाँ का वातावरण उनके लिए बहुत प्रेरणादायक सिद्ध हुआ।

छात्रनायक नानू

करुणागप्पली के गुरूकुल मे पढ़ने वाले विद्यार्थियों को कालिदास के महाकाव्य रघुवंश से प्रतिदिन दो श्लोक कंठस्थ करने होते थे। नानू की अर्थ-ग्राह्यता, स्मरण-कुशलता तथा स्मरणशक्ति ने गुरू को अध्ययन की गति बढ़ाने के लिए बाध्य कर दिया। नानू ने गुरू से विनीत भाव से कहा "इस गति से तो मैं घर जाने से पूर्व अपना अध्ययन समाप्त नही कर पाऊँगा। इस पर गुरू ने उत्तर दिया" तो ठीक है तुम वह श्लोक भी सीखा करो जो मैं तुम्हारे अग्रजों को सिखाता हूँ। इस प्रकार नानू ने अपने अग्रजों के पाठ भी सीखने प्रारंभ कर दिए। उसकी प्रगति से गुरू बहुत प्रसन्न हुए। इतना ही नहीं जब गुरू ने यह देखा कि नानू अभी तक न पढ़ाये गये श्लोकों का अर्थ भी सहज रूप से बता देता है तो उन्होंने नानू से कहा—"मैं तुम्हें क्लास का चट्टम्बी (छात्रनायक) बनाता हूँ और तुम मेरे कार्य में सहायता करो।" इस प्रकार नानू छात्रनायक बन गया और वह कुछ समय तक "नानू चट्टम्बी" के नाम से ही प्रसिद्ध रहा। स्वभावतः नानू चट्टम्बी गुरू का प्रिय शिष्य और स्कूल में सम्मानित विद्यार्थी हो गया और साथ ही कुछ पढ़ाई-लिखाई में पिछड़े विद्यार्थियों की छेड़छाड़ का निशाना भी।

अध्ययन, प्रार्थना एवं ध्यान

छात्रावास, जहाँ बच्चे एक साथ रहकर ऊधम, हल्का-गुल्ला और शरारतें करते

हैं, वहाँ एकाकी, प्रार्थना, अध्ययन एवं ध्यानरत किसी विद्यार्थी का दूसरों की बालोचित शरारतों का लक्ष्य बन जाना स्वाभाविक ही है। नानू ने इस सब को चुपचाप सहन कर लिया।

सौभाग्य से नानू का घनिष्ट मित्र, कुन्हुकुन्हु पन्निकर, ही एक ऐसा विद्यार्थी था जो नानू के जीवन-दर्शन को समझता और उसका आदर करता था। वे दोनों एक साथ काव्य, दर्शन एवं धर्म का अध्ययन करते तथा उन्हें कंठस्थ करते थे। पन्निकर जो नानू-भक्त के साथ-साथ उसी कमरे में रहता था, कहता है कि जब वह रात को उठता तो नानू को प्राय: प्रार्थनारत अथवा ध्यानमग्न ही पाता।

नानू अपने एकाकी एवं घुमक्कड़ स्वभाव के कारण हरे-भरे खेतों एवं वन संकुल भूभाग में इधर-उधर घूमते हुए पेड़-पौधों के पत्तों को तोड़कर उनको चबाता, चखता और उनका रसपान भी कर लेता। इन प्रयोगों से उसे न केवल खाद्य-अखाद्य में निपुणता प्राप्त हुई अपितु जंगली जड़ी-बूटियों के विषय में उसका ज्ञान भी बढ़ा। कालांतर में जब वह जंगलों में रहकर साधना में जीवन यापन करने लगे तो उनका यह ज्ञान बहुत लाभकारी सिद्ध हुआ।

1879 में उन्हें भयंकर पेचिश हुई। ऐसी स्थिति में उनके मामा उन्हें घर ले गए और इस प्रकार गुरू की शरण में शिक्षा का द्वितीय एवं अंतिम अध्याय एकाएक समाप्त हो गया।

अध्याय 3

नानू अध्यापक

वणनपल्ली से लौटने के बाद छात्रनायक नानू ने स्वास्थ्य लाभ प्राप्त किया। उसके बाद पहले उसने कदाक्कूवर और फिर अनचूतेंगु में छोटे बच्चों को लिखना, पढ़ना सिखाने के लिए स्कूल खोला। इस प्रकार छात्रनायक नानू अध्यापक बन गये।

जब वे अनचूतेंगु में अध्यापक थे तो वे पास के ज्ञानेश्वर मंदिर के अहाते में रहते थे। अपने खाली समय को वे प्रार्थना एवं ध्यान में ही व्यतीत करते। लोग इन्हें बाल ब्रह्मचारी एवं धार्मिक प्रवृत्ति वाले युवक के रूप में जानते थे। वे लोगों के लिए जो धर्मपरायण जीवन व्यतीत करने के इच्छुक थे, मन्दिर में गीता का प्रवचन करते थे।

उस समय उन्होंने जिम काव्य की रचना की उससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि वे जीवन के वास्तविक अर्थ को खोजने में लगे हुए थे। इस का प्रमाण इस बात से मिलता है कि वे एक समय विचार को स्वीकार करते तो फिर बाद में "यह नहीं' यह भी नहीं," कह कर उसी को स्वयं नकारकर, नवीन धारणाओं को अपनाते और फिर उन्हें भी नकार देते।

उनकी निरन्तर आकांक्षा ने जहाँ इष्ट देवता की पूजा का रूप ग्रहण कर लिया वहीं उन्होंने अपने आराध्य को अमूर्त लक्षणों से भी अलंकृत कर दिया। जैसे-जैसे उनकी भावना ऊर्ध्वता को प्राप्त करती गई ये विशेषण भी बदलते चले गये।

शिव उनके इष्ट देवता थे। उनकी पूजा करते हुए वे कहते हैं :—

चाह नहीं उस मोक्ष की
जहाँ मिलकर
तुम और मैं एकाकार हों
सब पथ

तव भक्ति अतिरिक्त भी
शिव,
अन्ततोगत्वा पथ हैं तुम्हारे।

यद्यपि वे सांसारिक तृष्णाओं को पीछे छोड़ आये थे किन्तु फिर भी कायिक बन्धन उन्हें अपनी ओर खींचते रहे। इस प्रकार भौतिक एवं आध्यात्मिक जगत के बीच फंसे नानू को हम कायिक बेड़ियों से मुक्तिदाता शिव की शरण में आया पाते हैं—

शिव, शिव तव समान न कोई
जानता हूँ सब
फिर भी भ्रान्त हूँ
व्यामोहक विचारों में
कहाँ ले जा रहे हैं ये मुझे ?

शिव, मनुष्य को उन सांसारिक तृष्णाओं से जो व्यक्ति को पथ भ्रष्ट करती हैं से बचाने वाले आश्रयदाता है। इस प्रकार हमारे इष्ट देवता आध्यात्मिक पथ पर ऊर्ध्व से ऊर्ध्वत्व की प्राप्ति के मार्ग दर्शक हैं।

भारतीय पुराण सदैव जीवन्त संस्कृत का भाग रहे हैं इतना ही नहीं शंकर, श्रीरामकृष्ण परमहंस, रमण महर्षि एवं श्रीनारायण गुरू जैसे महान अद्वैतवादी संन्यासियों के लिए भी प्रेरणा का स्रोत रहे है। जैसे कोई कैमिस्ट कच्चे माल को सफेद गर्म पात्र मे डालकर ढालता है उसी प्रकार उन्होने भी प्राचीन धारणाओं को अपनाया और फिर उन्हें तपस्या रूपी पात्र में डालकर अपने पारलौकिक एवं एकमात्र ब्रह्म के अनुरूप ढाला। यह सच है कि इन जटिल बातों को कुछ ही लोग समझे किन्तु इसका प्रभाव सर्वव्यापी था। इन तपस्वियों ने भी अपने भजनों में दार्शनिक विचारों को अभिव्यक्त करने के लिए इन विभिन्न पौराणिक कथाओं को प्रतीकों के रूप में प्रयुक्त किया तथा इन पौराणिक प्रतीकों को अपने विचारों के अनुकूल काव्य रूप में रूपान्तरित किया।

विवाह

भक्ति से नानू के मन में जो आनन्द की स्थिति पैदा हुई उसको लोगों ने युवकों की उस तरंग के रूप में माना जिसके आगमन पर शारीरिक परिवर्तन तथा कामेच्छा दिखाई देते हैं। ऐसे पथभ्रांत युवकों के लिए विवाह अचूक उपचार के रूप में सिद्ध होता है जिनका मस्तमौलापन आध्यात्मिक तरंग से प्रायः मिलता-जुलता है। अतः नानू के रिश्तेदारों ने भी सोचा कि नानू का विवाह कर दिया जाए। इस बार उनका मनाना सफल हुआ। वे विवाह के लिए राजी हो गये। दूसरों को

कोरा जबाव न देने की उनकी नैसर्गिक प्रकृति के कारण उन्हें विवाह के लिए राजी होना पड़ा। किन्तु वैवाहिक रस्मों ने उन्हें झकझोर दिया। वे अपने ब्रह्मचर्य मार्ग पर लौट आये। वे न तो पत्नी के ही घर गये और न ही घर लौटे फिर भी वती (नाई) ने जिसमें विवाह के संबंध में मध्यस्थता की थी नानू भक्त के बार बार इन्कार करने के बावजूद उन्हें अपनी पत्नी से मिलने के लिए मना लिया। वे ससुराल के बरामदे की ढ्योड़ी पर बैठ गये। पत्नी ने उन्हें मिठाई एवं कदली फल परोसा। नानू भक्त ने एक दो केले खुद खाये और कुछ नाई को दे दिए। उसके बाद वे उठे और किसी विशेष के स्थान पर सभी को संबोधित करते हुए बोले—

"इस संसार में मनुष्य विभिन्न उद्देश्यों को लेकर पैदा होता है। इसी प्रकार तुम्हारा और मेरा रास्ता अलग-अलग है। तुम अपने रास्ते पर चलकर सुखी रहोगे और मुझे अपने रास्ते पर चलने दो" इतना कह कर वे उठे और चल दिए।

अवधूत

जीवन के रहस्यों को समझने के जिज्ञासु अन्य सभी संन्यासियों की भाँति नानू स्वामी भी दैहिक बंधनों को तोड़ते हुए मुक्त संसार की ओर निकल पड़े।

लोगों ने उन्हें दिन-रात स्थान-स्थान पर घूमते हुए देखा। उन्होंने नानू को पहाड़ी की चोटियों, घाटियों, समुद्र तट और जंगलों में सदा विचारमग्न घूमते हुए पाया। उन्हें मन्दिरों में ध्यानमग्न एवं पूजारत देखा। उनको देखकर श्रीमद्भाग-वत गीता में योगी के सम्बन्ध में "अनिकेत स्थिर मति" अर्थात् वह व्यक्ति जिस का मन तो स्थिर है पर जो नित्य अपना ठिकाना बदलता रहता है—की याद आ जाती है।

उस समय नानू स्वामी पेरूवेल्ली में वी०के० कृष्ण वाडियार के घर काफी आते जाते थे। वाडियार के घर में रखे संस्कृत और तमिल के ग्रन्थ ही आकर्षण का एक मात्र कारण थे।

हालांकि कामेच्छा को जीतना कोई सरल काम नहीं फिर भी स्वामी ने जो ब्रह्मचर्य जीवन बिताने का निश्चय किया था वह उनके आत्मबल का परिचायक है। इसमें सहायता के लिए वे शिव से स्तुति करते हुए कहते हैं :—

तुम्हारा तृतीय नेत्र जो नियमन करे,
नरहरिमूर्ति की पूजा
भस्मीभूत किया कामदेव को तुमने,
अब वह क्यों परेशान करे मुझको
हे शिव पुन: भस्मीभूत करें उसको।।

इस प्रकार प्रार्थना से वे मानसिक बल प्राप्त करने का यत्न करते हैं।

कृष्ण वाडियार के घर एक और सवर्ण, कुंजन पिल्ले, आया करते थे जिन्हें इनमुखदास के नाम से जाना जाता था। लोग उन्हें प्यार से चित्तम्बी स्वामिगल कहते थे। वे बहुत बड़े विद्वान, संत, संन्यासी और योगी थे। नानू स्वामी एवं स्वमिगल चित्तम्बी की भेंट हुई क्योंकि दोनों अध्यात्मिकता के पथ पर चल रहे थे। अतः दोनों बहुत दिन तक साथ-साथ रहे। श्री चित्तम्बी स्वामी ने श्रीनारायण गुरू का परिचय थैक्कत अय्याबू से करवाया। श्री थैक्कत अय्याबू उच्च कोटि के तमिल योगी थे लेकिन कुछ कारणों से वे गृहस्थ एवं सरकारी नौकर हो गये।

नानू ने अय्याबू से योगाभ्यास की दीक्षा ली।

अध्याय 4

तपस्वी

अय्याबू ने जो योगाभ्यास सिखाया था उसे नानू ने बहुत जल्दी सीख लिया। उसके बाद गुरू ने उन्हें एकान्त स्थान पर जाकर योगाभ्यास करने की सलाह दी। (ऐसा उन्होंने इसलिए कहा क्योंकि) श्रीमद्भागवत् गीता में भी कहा गया है—

चित-आत्म-संयम नित एकाकी करे एकान्त में।
तज आशा संग्रह नित निरन्तर योग में योगी करें।। (VI : 10)

एवं

बन ब्रह्मचारी शान्त, मन-संयम करे भय-मुक्त हो।
हो मत्परायण चित मुझमें ही लगाकर युक्त हो।। (VI : 14)

नानू आश्न तपस्या के लिए एकान्त स्थान की खोज में अकेले ही चल पड़े। वे परम तत्व ज्ञान प्राप्त करने के लिए एकाकी यात्री के समान भटकते रहे। इस यात्रा में उनका मार्गदर्शन करने वाले केवल सूर्य और चाँद ही थे।

ऐसा कोई भी पहाड़, जंगल और नदी तट नहीं बचा था जहाँ नानू आश्न न घूमे हों! जिस किसी ने भी उनको ऐसे घूमते हुए देखा उसे वे निरुद्देश्य ही घूमते हुए लगे। लेकिन, वे अपने भीतर निवास कर रहे ब्रह्म को प्राप्त करने के लिए दृढ़ संकल्प थे। इस बात को कोई नहीं जानता था। समय-समय पर घटित होने वाली ये कुछ बाते थीं जिन्हें उनके शिष्यों ने छुटपुट रूप से संग्रहीत किया था। दुर्भाग्यवश इन सभी घटनाओं को ठीक से इकट्ठा कर उनके जीवन-चरित्र को लिखने वाला कोई न था। मुर्कोट कुमारन ने श्री नारायण गुरू की पहली प्रामाणिक जीवनी लिखी है। इसके लिए कुमारन को भी उनके शिष्यों से ही व्यक्तिगत संपर्क और पत्र-व्यवहार से सामग्री प्राप्त करनी पड़ी।

नारायणगुरू ने अधिकांश समय अकेले जंगलों में फल-कंदमूल आदि खाकर

बिताया। किशोरावस्था में जब वे अकेले जंगलों में घूमते रहते थे तो हर प्रकार के फल तथा जड़ी बूटियों आदि को खाकर जैसे मानों वे अचेतन रूप से अपने आपको इस समय के लिए तैयार कर रहे थे।

समय-समय पर वे तरह-तरह की कंदराओं में ठहर जाते थे। इन बीहड़ जंगलों में जंगली और अन्य जानवर उनके साथी होते थे। उन्हें इन जानवरों से न तो भय लगता था और न ही वे उनकी उपस्थिति से विचलित होते थे। वे सदा अपने संन्यासी शिष्यों से कहते "यदि आप उनसे भयभीत नहीं होंगे, न ही उनको तंग करेंगे और न ही उनको नुकसान पहुँचाने का विचार रखेंगे तो वे भी आपको नुकसान नहीं पहुँचायेंगे"।

वे वनवासियों को प्राय: दिखाई पड़ जाते थे। उन्हें वनवासी जो भोजन देते वे उसे खा लिया करते थे और जो कुछ भी उनके पास हुआ करता था वे उन बन-वासियों के साथ मिल बाँट कर खा लेते थे।

मरूथवा माला चोटी पर स्थित पिलाथादाम नामक कंदरा से ही मैदान के लोगों को उनके वहाँ होने का पता चला।

अध्याय 5

कंदरा

मरूथ्वामाला के उच्च शिखर पर एक विशाल किन्तु चारों ओर से छुपी हुई हवादार गुफा है। इस गुफा को देखकर ऐसा लगता है जैसे प्रकृति ने इसे तपस्या के लिए विशेष रूप से बनाया हो।

इसका ऊँचा और खुला मुखद्वार मानो आपका स्वागत कर रहा हो। जैसे ही आप प्रवेश करते हैं आपको श्वेत मुक्ताभ रेत मिलती है जिसका स्पर्श काफी शान्तिदायक है। ऐसा लगता है जैसे किसी ने जंगली घास की चटाई-सी बिछा दी है। जिस पर आप ध्यानावस्था के लिए बैठ सकते हैं अथवा शान्ति से आराम कर सकते हैं। पत्तों की सरसराहट का मधुर संगीत मानो आपको निद्रा की गोद में सुला देता है। वहाँ के पक्षियों का मधुर कलरव संगीत आपको जगाने का काम करता है।

आसपास के दृश्य की अनुपम छटा देखते ही बनती है। गुफा का मुँह पश्चिम की ओर है। आपके पैर के नीचे ढलान पर हरी-हरी घास का कालीन, चारों तरफ रंग-बिरंगे फूल तथा छायादार पेड़ मिलते हैं। पेड़-पौधों से छन कर आती हुई सूर्यास्त की किरण से आकाश मंडल का दृश्य इतना सुन्दर हो जाता है मानो प्रकृति ने उस चित्र को तूलिकाबद्ध किया हो। ऐसे में यह विश्वास होने लगता है—कला प्रकृति का अनुकरण करने की अपेक्षा कला का अनुकरण अधिक करती है। यह सभी दृश्य देखकर ऐसा लगता था मानो प्रचंड सूर्य में जगमगाता हुआ शुभ्र समुद्रफेन और समुद्रतट से उसकी नक्काशी की गई हो।

दैवी खोज

मुर्कोट कुमारन ने अपनी खोजों में इस दुर्गम गुफा में स्वामी जी के बारे में स्वयं दृष्ट सूचनाएँ इकट्ठी कीं। यह सही है कि कुमारन ने स्वामी जी के बारे में अन्य लोगों

से केवल वही सूचनाएं इकट्ठी कीं जो अत्यन्त प्रामाणिक थीं। 75 वर्षीया वृद्धा चेतमम्मा ने उन्हें बताया कि मरूथवा पहाड़ की पिलाथाधाम गुफा में तपस्या करते हुए योगी स्वामी को देखने वाला पहला व्यक्ति उसका ओवरसीयर पति था। अपने एक सर्वेक्षण के दौरान उससे गुप्त रूप से सफेद कपड़े पहने एक आदमी को देखा जो गुफा के इर्द-गिर्द घूम रहा था। जैसे ही वह गुफा की ओर बढ़ा उसकी आँखें धीरे-धीरे अंधकार में देखने की अभ्यस्त होने लगी। (उसे देख) स्वामी गुफा के बाहर बैठे दोनों चीतों को, जो मानो द्वारपाल का काम कर रहे थे, जाने का संकेत किया।

ओवरसीयर ने अब अपने आप को सुरक्षित पाया तो हाथ जोड़कर स्वामी जी के पास जाने का साहस किया। उन दोनों में क्या बात हुई उसे केवल वे ही जानते हैं।

उसने पाया कि उसके सामने एक लम्बा तगड़ा संन्यासी खड़ा था। उसका रंग गोरा था तथा वह तेजस्वी, स्वस्थ, सरल तथा सहज स्वभाव का था। यह दृश्य देखकर ऐसा लगता था जैसे मानो जीर्ण शीर्ण गुफा रूपी साँचे के भीतर अर्द्ध अंधकार के शान्त वातावरण के परिप्रेक्ष्य में एक दोलायमान व्यक्ति को गढ़ा गया हो।

अध्याय 6

नानू-योगी

नानू योगी मरूथ्वापर्वत और पिलाथघाम के एकाकी जीवन को छोड़कर समाज के साथ रहने के लिए मैदान में आ गए। वे संसार में रहते हुए भी संसार से निर्लिप्त थे।

इस बार केरल में और केरल के बाहर नंगे पाँव मन्दिर-मन्दिर घूमते रहे। एक सच्चे तपस्वी की भाँति उन्हें तीर्थयात्रियों अथवा धार्मिक प्रवृत्ति वाले गृहस्थियों से जो कुछ मिल जाता था उसे खा लेते थे और किसी दिन उन्हें कुछ नहीं मिलता तो वे शान्त भाव से भूखे पेट ही रह लेते थे। आध्यात्मिक चिन्तन और पूजा-पाठ में लीन, वे संसार को दर्पण की भाँति निर्लिप्त भाव से देखते रहते थे। उनकी अपनी भौतिक इच्छाएँ तो नगण्य ही थीं। जहां और जिस किसी स्थान पर वे पहुँच जाते वहीं रैन-बसेरा बना लेते। उन्होंने भक्त के जीवन का चित्र खींचते हुए कहा है "पृथ्वी ही उसका बिछौना है और उसकी भुजाएँ उसका उसका तकिया।"

पवित्र आभा, करुणामयी आँखें, कष्ट निवारक और हृदयस्पर्शी उपदेश, शान्तिदायक मधुर मुस्कान ये कुछ ऐसे आध्यात्मिक गुण हैं जिनके कारण लोग अकस्मात उनकी ओर खिचे आते थे। इस सबसे बढ़कर उनमें विनय और निस्वार्थ की भावना निहित थी जो उनकी उन्मुक्त आत्मा के स्पष्ट चिह्न थे। ये गुण ऐसे शक्तिशाली चुम्बक थे जिनसे उनके भक्त उनकी ओर सहज ही आकृष्ट हो जाते थे।

सीधे-सादे, पुण्यात्मा लोग अपने ही ढंग से उनसे धार्मिक चर्चा करने आते थे। उदाहरण के लिए सुचिन्द्रम् मन्दिर में उन्होंने स्वामी को पुष्पमाला डालने और जलूस के रूप में मन्दिर की परिक्रमा के लिए मना लिया। ऐसे निष्कपट, सीधे और निष्ठापूर्ण तरीके का वे विरोध नहीं कर पाते थे। इस सब का पूरा-पूरा

लाभ वे लोग उठाते थे जो भक्ति में धूम-धमाके को अधिक महत्व देते थे। आम भारतीय की धारणा है कि ऐसे उत्सवों पर जितनी भ्रान्ति फैलायी जाए उतनी ही वह भक्तों के मन में निष्ठा पैदा करने में सहायक होती है। कोई भी यह अनुमान लगा सकता है कि नानू स्वामी ने जो आध्यात्मिक विनोद पटु थे, इस प्रकार के जलूस का क्या आनन्द उठाया होगा ?

कन्याकुमारी, कुलाचल, करीमकुलम, पोवर, कोवालम् और त्रिवेन्द्रम जैसे कई समुद्रतट थे जहाँ वे कई दिनों तक घूमते रहे। वे गरीबों की सहायता करते रहते थे और बदले में, इन गरीबों के पास जो कुछ होता वे उससे इनकी सहायता करते।

रात्रि के समय जब पक्षी अपने घोंसलों में, पशु अपनी माँदों में और आदमी अपने घरों में सुख की नींद सोते, नानू स्वामी असीम सागर के सामने उसके तट पर बैठकर प्रार्थना करते और समाधि लगाते और फिर वहीं मछली के जालों पर सो जाते। सुबह-सवेरे जब मछुवारे आते तब या तो वे चुपचाप उठकर चल देते या फिर उनके कार्यों में उनकी सहायता करते। ये मछुआरे अपने साथ तरह-तरह की मछली बनाकर ले आते थे और जो कुछ वे लाते थे वही इन्हें (नानू-स्वामी को) भी देते। स्वामी को मछली बहुत पसन्द थी। साथ ही उन्हें शारीरिक श्रम करने में भी आनन्द आता था। वे मछुआरे आपस में कहते—"यह संन्यासी काम से जी नहीं चुराता। यह हमारे काम में हाथ बंटाता है। यह हमारे लिए भाग्यशाली है। यह वही खाता है जो हम देते हैं।" बहुत अद्भुत स्वामी है न ! निःसंदेह, ऐसे भी कुछ लोग थे जो उनका उपहास करते। सीधे-साधे मछुआरे और अन्य लोग, जो बच्चों के समान अगाध प्रेम करते और निश्छल थे, प्रेमवश उनकी ओर खिचे चले आते थे।

नानू स्वामी

उनके एक परम शिष्य ने लिखा है "जब मछुवारे उन्हें ताजी और अनपकी मछली देते तो वे उसे भी स्वीकार कर लेते। वह मछली को किसी बुढ़िया के पास ले जाते जो पास की ही पहाड़ी पर अपनी इकलौती बेटी के साथ रहती थी। वह बुढ़िया मछली को पकाती और खाने को उन्हें देती। परिवार की दरिद्रता को देखते हुए गुरू ने उन्हें नारियल के रेशे से चीजें बनाना सिखाया जिससे वे अपनी आमदनी बढ़ा सकें।"

यह खबर फैल गई कि जो नानू स्वामी काफी समय से तपस्या कर रहे थे अब जनसाधारण के बीच भिक्षुक बने हुए हैं। वे कई चमत्कार कर रहे हैं और लोगों को उन बीमारियों से भी मुक्ति दिला रहे हैं जिन्हें लाइलाज कहा जाता था। कुछ

लोगों का विश्वास था कि वे ज्ञानी हैं तो दूसरे उन्हें भिखारी मात्र मानते थे। जो थोड़े से लोग उनके विद्वान चाचाओं के बारे में जानते थे उन्हें यह देखकर दु:ख होता था कि ऐसे संभ्रान्त परिवार का उत्तराधिकारी पागलों की तरह घूमता-फिरता है।

चेरूकान वादियार नामक सुप्रसिद्ध शिकारी ने एक दिन प्रात: एक ऐसे व्यक्ति को देखा जो मानवता की भव्य प्रतिभा के समान था। वह व्यक्ति एक हरिजन के घर के सामने खड़ा चूल्हे में से जड़ी-बूटियाँ आदि निकाल रहा था। और एक ओर एक गृह स्वामिनी स्तब्ध-सी खड़ी, हरी शाल ओढ़े एक व्यक्ति को देख रही थी। वास्तव में वह व्यक्ति नानू स्वामी था। इसे वादियार ने तुरन्त ही पहचान लिया। स्वामी जी के पास गये और उन्हें अपने घर चलने के लिए आमंत्रित किया। स्वामी उनके साथ चले गये और कुछ समय तक वहीं रहे।

नायर, ईसाई और मुस्लिम

नायर, ईसाई, मुस्लिम तथा निम्न जाति के तमिल चन्नार कुछ ऐसे लोग थे जो स्वामी का विशेष सम्मान करते थे। ऐजावाओं में डा० पालपू के घर संन्यासी का विशेष आदर और सम्मान होता था। कालान्तर में डा० पालपू के सुपुत्र, स्वामी नटराज, गुरू के प्रसिद्ध अनुयायी हुए।

मोलूर एस० पद्मनाभन पन्निकर, जिनकी चर्चा पहले भी की जा चुकी है, स्वामी जी के निकट सहयोगियों में से थे। उन्होंने स्वामी जी के संस्मरणों को इकटठा किया है। एक स्थान पर वे लिखते है—

"मैं मुसलमानों के बीच में कई दिन रहा हूँ। उनके साथ एक ही थाली में भोजन किया है। गोश्त और मछली खायी है। मैं उनके बच्चों के साथ खेला करता था। उनके शिशुओं को बाँहों में उठता था और भूखों को अपने हाथों से खिलाता था।"

यह भी मालूम हुआ है कि उन्हीं दिनों उन्होंने मुस्लिम रहस्यवाद एवं दर्शन पर अधिकार पाया था। मुगल बादशाह शाहजहाँ के पुत्र औरंगजेब के अभागे भाई और महान रहस्यवादी दाराशिकोह ने जिन मुस्लिम यौगिक क्रियाओं का वर्णन किया है उनके प्रति इनकी बड़ी आस्था थी। स्वामी ने कुरान की आयतों जो व्याख्या की थी उसे मुसलमान भी सम्मान देते थे। दक्षिणी ट्रावनकोर के बड़े-बड़े मुस्लिम विद्वान भी इनका बड़ा सम्मान करते थे।

ईसाई भी इनका बड़ा आदर करते थे। अरूवीपुरम् के मन्दिर में स्वामी जी द्वारा प्रतिष्ठित मयूर की प्रतिमा ईसाई मताबलम्बी, चितम्बी, द्वारा समर्पित थी।

जब एक युवा ईसाई सुसमाचारक ने स्वामी जी को ईसाई बनने के लिए कहा तो स्वामी जी ने उत्तर देते हुए कहा—"क्यों ? मैं तो पहले से ही ईसाई हूँ।"

अरूवीपुरम्

वे अब अरूवीपुरम् में आ गये। यह नगर नदी तट पर बसा मोहक स्थल है। केरल की नयार नदी का उद्भव पश्चिमी घाट में अगस्तकुत्तम् से होता है। यह पश्चिम की ओर बहती हुई अपने दोनों ओर की भूमि को हरा-भरा करती है और अन्त में पुवार में अरब सागर में विलीन हो जाती है। अपने उदगम से 35 किलोमीटर पश्चिम में, बाहर निकली नुकीली चट्टानों से बहती हुई अन्त में सीधे नीचे प्रपात के रूप में गिरती है। यह स्थान प्राचीनकाल से शकर कुजी या शंकर अथवा शिव कुंड के नाम से भी प्रसिद्ध है। इसके रास्ते में पड़ने वाली चट्टानें मानो पानी के प्रचन्ड वेग को रोकना चाहती हैं। इनसे उसकी गति और तीव्र हो जाती है। परिणामत: वे उसे सोपानी प्रपात में बदल देती हैं। मानसून के बाद जब पानी एकदम निर्मल हो जाता था तो नीचे की काली चट्टानों को भी साफ-साफ देखा जा सकता था। तब वहाँ का दृश्य अद्भुत होता था। यदि नदी पर एक विहंगम दृष्टि डाली जाए तो वह एक हरे रिबन के रूप में दिखाई देती है। जिसमें चट्टानें झिलमिलाते तारों के समान दिखाई देती हैं। ये इस के सौन्दर्य में चार चाँद लगा देती थी। घने लम्बे पेड़ों से तट की हरियाली मानो उस चित्र को और अधिक गहरा बना देती है और उसमें अलौकिक सम्मोहन उत्पन्न करती थी।

न तो वहाँ कोई रहता और न ही कोई वहाँ आता जाता था। 1888 को स्वामी जी के समकालीनों ने वह वर्ष माना है जब उन्होंने उस आध्यात्मिक स्थान पर तपस्या प्रारम्भ की थी। ऐसा लगता है कि इस स्थान को प्रकृति माँ ने जैसे सन्यासियों के रहने के लिये ही विशेष रूप से बनाया था। वे अकेले ही वहाँ रहते और निरन्तर सांसारिक दुखों के बारे में सोचते रहते थे। नदी के बाँये तट पर स्थित चेरूकुन्नु नामक स्थान अब केरल के इतिहास में सामाजिक, सांस्कृतिक और धार्मिक गतिविधियों का प्रतीक बन गया है। लगभग सौ साल पहले वह जंगल था जिसमे जंगली जानवर रहते थे। इनका शिकार करने प्राय: शाही शिकारी और उनके रिश्तेदार आते थे। हाँ, कुछ धार्मिक प्रवृत्ति के लोग जो संसार के कोलाहल से दूर शान्त जीवन व्यतीत करना चाहते थे, भी वहाँ रहते थे। आज यह उन लोगों के लिए पवित्र स्थान है जो पूजा और शान्ति के लिए वहाँ जाना चाहते हैं। हर तरह से यह स्थान केरल का अब एक आकर्षक स्थल है जहाँ तनावपूर्ण वातावरण से शान्ति प्राप्त करने के लिए आज का व्यक्ति आता है।

शीघ्र ही यह खबर फैल गई कि नानू स्वामी अब चेरूकुन्नम् में अरूवीपुरम् नामक स्थान में रह रहे हैं और वे ऐसे सिद्ध पुरुष हो गये हैं जो अद्‌भुत चमत्कार करते हैं।

कुछ लोगों ने उन्हें देखा। जब वे लोग अपने गाँव और शहर वापस लौटे तो उन्होंने जो कुछ देखा था वह सब को बताया। उनके बताने के तरीके से ही स्वामी जी का दीप्त व्यक्तित्व और भी रहस्यमय होता गया। ऐसे में जनसामान्य का कथन प्राय: अतिशयोक्तिपूर्ण होता ही है।

जो लोग स्वामी जी के दर्शन के लिए आते थे वे हमेशा की तरह उन्हें कुछ भेंट भी करते थे। स्वामी जी वे सब चीजे उन लोगों को ही दे दिया करते थे जो वहाँ इकट्‌ठे होते थे। कुछ लोग बाँटने के लिए काफी मिठाई लाते। कुछ व्यावहारिक श्रद्धालु चावल और कढ़ी का खाना बाँटते थे। कुछ धनाढ्य लोग चावल और सब्जी लाते और उन्हें वहीं पका कर ताजा और गर्म-गर्म खिलाते। उत्सव के दिनों में बड़ी भीड़ होती थी। इस प्रकार बहुत तेजी से वह स्थान तीर्थ-स्थान बनता गया और नानू स्वामी की पूजा होने लगी। उन्होंने इसे उचित नहीं समझा। अत: स्वामी जी ने अपने निकट के लोगों को बताया कि वे वहाँ पूजा के लिए शिव की मूर्ति की स्थापना करेंगे। उन्होंने इसकी स्थापना शिवरात्रि को करने की इच्छा प्रकट की।

कुमार आशन उस दृश्य का वर्णन इस प्रकार करते हैं :—

शिवरात्रि से कुछ ही दिन पहले स्वामी ने इस बात की घोषणा की कि वे प्रतीक के रूप में शिवलिंग की स्थापना करना चाहते हैं। मन्दिर के निर्माण के लिए न तो साधन, न सामग्री और न ही पर्याप्त समय था। किन्तु स्वामी ने किसी भी चीज की मांग नहीं की। बल्कि उन्होंने कहा, "यह समतल चट्टान ही आधार पीठिका होगी। मैं नदी में गोता लगाकर चट्टान का एक गोल टुकड़ा उठा लाऊँगा। बस वही हमारे लिए शिवलिंग होगा।"

इस योजना से लोग बहुत खुश हुए। उन्होंने एक कामचलाऊ शामियाना खड़ा किया जो उतना ही कामचलाऊ था जितनी कि वह पीठिका। और फिर उसे फूलों और नारियल के पत्तों से सजाया। शिवरात्रि पर पारम्परिक जागरण के लिए तीर्थयात्री उस स्थान पर इकट्‌ठे हुए। न जाने कहाँ से नागस्वम् संगीतज्ञों का एक समूह भी वहाँ आ गया। प्रचुरमात्रा में पुष्प और कुछ दीप ही उस उत्सव के मात्र उपांग थे। निश्चय ही ये बहुत कम वस्तुएँ थीं पर इससे क्या फर्क पड़ता है ? लोगों के मन तो आनन्द, आशा और भक्ति से पूर्ण थे।

ठीक अर्धरात्री को स्वामी जी ने नदी में डुबकी लगाई। कुछ समय बाद जब वे बाहर आये तो उनके हाथों में शिवलिंग था। इसे लेकर वे पीठिका के पास आये

और ध्यानमग्न अवस्था में आँखें मूंदे खड़े हो गये। उनके हाथ वक्षस्थल तक उस शिवलिंग को उठाये हुए थे, नेत्रों से उमड़े हुए अश्रु उनके गालों तक आ गये और वे अपनी सुध-बुध खोये ऐसे खड़े थे जैसे संसार से कहीं दूर किसी दूसरी दुनियाँ में हों। पूरे तीन घंटे वे इसी आसन में खड़े रहे जबकि दूसरी ओर पूरा जनसमूह "ओम नमः शिवाय:" ओम नमः शिवाय:" के निरन्तर जयगान से रात्रि के वातावरण को गुंजायमान कर रहा था। पूरा जनमानस मानो एक विचार, एक प्रार्थना "ओम नमः शिवाय:" में ही खो गया था।

प्रात: तीन बजे स्वामी जी ने शिवलिंग को पीठिका पर स्थापित कर उसका अभिषेक किया।

इस प्रकार उस भोर वेला में केरल में एक नये युग का प्रादुर्भाव हुआ। कालान्तर में जब वहाँ मन्दिर का निर्माण हुआ तो श्री नारायण गुरू के इस जीवन संदेश को एक प्रस्तर पर अंकित कर दिया गया—

"यह एक आदर्श निवास,
जहाँ रहते मानव भातृसम
धार्मिक द्वेषभाव और
जातीय संकीर्णताओं से मुक्त हो।"

वे केरल को ऐसा आदर्श बनाना चाहते थे जिसे सारा विश्व उस परम सत्य की ही अभिव्यक्ति लगे एक जाती, एक धर्म, एक भगवान" ही उनका संदेश था जो समूचे विश्व में फैल गया और अब इसी संदेश के प्रति पूरी मानवता प्रयत्नशील है। भले ही वह अपनी प्रगति से असंतुष्ट है किन्तु प्रगति तो स्पष्ट है।

इससे कोई अन्तर नहीं पड़ता। हमारे आदर्श उसी प्रकार हमारे मार्ग-दर्शक होते हैं जैसे जैसे सागर में नाविक के लिए ध्रुवतारा। भले ही उसका जहाज ध्रुवतारे तक कभी न पहुँचे किन्तु वह बन्दरगाह तक सुरक्षित अवश्य पहुँच जाता है।

अध्याय 7

हृदय परिवर्तन

नानू स्वामी के द्वारा शिवमूर्ति की स्थापना ने वहाँ पर एकत्रित जनसमूह के लिए विद्युत आघात के रूप में काम किया। जैसा कि केरल "पागल खाने" के रूप में उस समय जाना जाता था इस विद्युत आघात ने रूग्ण समाज के उपचार का काम किया।

यह आघात जातीय सोपान के बीच की जाति ऐजावाओं को दिया गया था। इस आघात ने एक ओर ऐजावाओं से उच्च जाति के नम्बूदरी ब्राह्मणों में जागृति पैदा की तो दूसरी ओर उनसे निम्न विभिन्न जातियों पर भी अपना प्रभाव डाला। इस उपचार से चतुर्दिक समाज सुधार हुआ था। इससे नम्बूदरी नय्यर, ऐजावा और पुलियास आदि सभी जातियों में सुधार के तीव्र और प्रभावशाली आन्दोलन चले और इन्होने अन्य बीच की जातियों को भी प्रभावित किया। इन सुधार आन्दोलनों के नेताओं ने भी यह स्वीकार किया है कि वे श्री नारायण गुरू के द्वारा चलाये गये इन आन्दोलनों से बहुत प्रभावित हुए थे।

उस समय प्रचलित रीति रिवाजों को देखकर यह अच्छी तरह समझा जा सकता है कि गुरू ने शिवलिंग की जो स्थापना की थी वह कितनी महत्वपूर्ण घटना थी। जैसा कि पहले लिखा जा चुका है कि केरल में ऐजावा एवं उनसे निम्न जाति के लोगों को हिन्दू मन्दिरों में प्रवेश की अनुमति नहीं थी। इतना ही नहीं हिन्दू मन्दिरों से लगी हुई सार्वजनिक सड़कों पर चलना भी उनके लिए निषिद्ध था। जब किसी मन्दिर की मूर्ति की शोभायात्रा शहर में निकलती थी तब रास्ते में पड़ने वाले इन निम्न जाति के लोगों को अपने घरों की सफाई करनी पड़ती थी।

उन उच्च जाति के लोगों को जिन्हें मन्दिर में प्रवेश मिलता था उन्हें भी अपनी जाति के अनुसार रहना पड़ता था। प्रत्येक जाति को एक-दूसरे के पीछे

पूजास्थल से निश्चित फासले पर ही खड़ा होना पड़ता था। इनमें ब्राह्मण लोग पूजास्थल के सबसे अधिक निकट खड़े होते थे। ब्राह्मण में भी उच्च वर्ग के ब्राह्मणों को मन्दिर के भीतर पूजा करने का अधिकार था। यह भेद-भाव यहीं समाप्त नहीं होता। हर किसी पुजारी को मूर्ति की प्रतिस्थापना एवं अभिषेक करने का अधिकार नहीं था। ब्राह्मणों में भी कुछ उच्चतम वर्ग के ब्राह्मणों को ही यह सब करने का दैवी अधिकार प्राप्त था। दूसरी ओर एक ऐजावा—नारायण गुरू थे जो ऐसा पवित्रतम अनुष्ठान कर रहे थे और इस प्रकार मानो जाति-भेद की परंपरा को ही मूल से समाप्त कर रहे थे। इसमें संदेह नही कि इससे लोगों को बहुत आश्चर्य हुआ। इससे अन्ध-विश्वासी लोगों को शंका हुई कि कुछ अनिष्ट होने वाला है परिणामतः बुद्धिजीवियों की भौहें तन गई तो परम्परावादियों ने इसकी भर्त्सना की। सब कुछ कह-सुन और कर लेने पर भी विद्रोह अधिक नहीं जम सका। वस्तुतः इसका श्रेय केरल के उन उदार हृदय ब्राह्मणों और उच्च जाति के लोगों को जाता है जिन्होंने न तो इसका अधिक विरोध किया और न ही झगड़ा किया। अभी भी सच्चे आध्यात्म के प्रति भारतीयों में, विशेषकर केरल में, आदर की भावना मिलती है। अथवा यूँ कहा जाए कि इसे भी केरल-वासियों के उन्माद की एक तरीका माना जा सकता है। चाहे जो भी हो, श्री नारायण गुरू का तेजस्वी व्यक्तित्व पूरे विरोध पर हावी हो गया।

इस सब हुल्लड़ बाजी में एक उत्साही युवा नम्बूदरी ब्राह्मण ने गुरू से पूछा—"एक ऐजावा होकर शिवमूर्ति का अभिषेक करने का तुम्हें क्या अधिकार था ?"

गुरू ने शान्त भाव से मुस्कराते हुए कहा—"मैंने तो ऐजावा शिव का अनुष्ठान किया है।"

उनके विनोदपूर्ण और चौंका देने वाले उत्तर ने उस रूढ़ीवादी नम्बूदरी का मुँह बंद कर दिया। किस की मजाल थी की उस चुभते हुए उत्तर पर और तर्क करता। कम से कम नम्बूदरी की तो हिम्मत नहीं थी क्योंकि नम्बूदरी लोग इस प्रकार के व्यंग्य-विनोद के लिए मशहूर हैं।

यह तो कल्पना की जा सकती है कि नम्बूदरी उस समय मुस्कराया होगा और उसने विचार किया होगा कि "इस अजीब आदमी ने ब्राह्मणों की मूर्ति-स्थापना के अधिकार को न केवल हथिया लिया है बल्कि हमारी हाजिर जवाबी की कला को भी पा लिया है। इस प्रकार हम उनके समूचे जीवन में हाजिर जवाबी का पुट पाते हैं जो उनकी जीवन-कथा को जीवन्त बनाता है।

विवाद शमन

केरल ने इस वीरतापूर्ण कार्य के लिए अपनी सहर्ष सहमति दी। इस प्रकार कटु आलोचना का अध्याय समाप्त हुआ और श्री नारायण गुरू प्रतिवर्ष एक एक करके हिन्दू मंदिरों की स्थापना करते चले गए। इन मन्दिरों की स्थापना उच्च वर्ग के परम्परावादियों के मंदिरों की तरह की गई। केरल के मानचित्र पर इस प्रकार के मंदिरों की संख्या तीस के ऊपर है। इनके साथ साथ एक-दो मंदिर कर्नाटक में, दो-तीन तमिलनाडु और श्रीलंका में भी स्थापित किए गये। आज ऐसा विलक्षण केरल आपके सामने है जिसमें तीस मंदिरों की प्रतिष्ठा तो एक अछूत ने की। अब जिनमें बिना किसी विरोध के पूरी श्रद्धा से पूजा की जाती है।

इस संदर्भ में एक घटना ऐसी भी है जिसमें कुछ लोगों ने यह शिकायत की कि स्वामी जी ने मूर्ति स्थापना से पहले ज्योतिषियों से शुभ मुहूर्त नहीं निकलवाया। एक बार फिर स्वामी जी ने इस आक्षेप का उत्तर केवल एक वाक्य में दिया, "हम जन्मपत्री सिर्फ नवागत शिशु के लिए बनाते हैं, अन्य कर्मकांडों के लिए नहीं। क्या यह सच नहीं हैं ? मूर्ति को पवित्र कर लिया गया था, अब आप चाहें तो उसकी जन्मपत्री बना सकते हैं।" स्वामी जी के इस वक्तव्य ने उन लोगों की—जो छोटी-छोटी बात पर विरोध करते थे—आँखें खोल दीं।

कालान्तर में बुद्धिवादी लोगों ने भी विरोध किया। त्रिचूर में जब एक मन्दिर का निर्माण अपने अन्तिम चरण में था उस समय एक पत्र के संपादक ने उनसे पूछा—"स्वामी जी। इन मूर्तियों या स्पष्ट रूप से कहूँ तो इन पत्थरों के पूजने से क्या हम अंधविश्वासों को बढ़ावा नहीं दे रहे हैं ?"

गुरू जी ने पुन: सम्मोहन मुस्कान के साथ जिसमें दयाभाव का तत्व भी सम्मिलित था, उत्तर दिया "जनसमुदाय ईश्वर को पूजता है, पत्थर को नहीं"। और फिर दबी हुई हंसी में कहा "जब तक कि दूसरे लोग उनसे ऐसा नहीं कहते। जन-समुदाय इस प्रकार से तब तक नहीं सोचता जब तक कोई उन्हें जानबूझकर भ्रम में नहीं डालता"।

यहाँ एक बार फिर हमें सहज स्वाभाविक उत्तर मिलता है जिसे सरलतम शब्दों और एक ही वाक्य में कहा गया है। इसमें जो विचार मिलता है उसे व्यक्त करने के लिए दूसरा व्यक्ति सम्भवत: एक पूरे भाषण में कह पाता। यह था कि एक बुद्धिजीवी का प्रतिपादन, एक ज्ञानी की अभिव्यक्ति। इसी प्रकार अन्य आलोचकों दे भी विभिन्न मुद्दों पर विरोध प्रकट किया। इनके मतानुसार योगी ने मूर्तियों की प्रतिष्ठापना की और लोगों को उनकी पूजा के लिए प्रेरित किया वह गलत था ? वह प्रश्न अब भी उठाया जाता है।

इस संदर्भ में श्री नारायण गुरू "गीता" का अनुसरण कर रहे थे। यह सच है

कि पूजा-अर्चना एवं ध्यान के लिए योगी को इन मूर्तियों की कोई आवश्यकता नहीं है, पर जनसामान्य को आध्यात्मिकता की ओर बढ़ने के लिए उनकी आवश्यकता होती है। ये आध्यात्म पथ पर बढ़ाने के लिए एक सीढ़ी के रूप में उसके लिए काम करती है। अतः गुरू ने उनको वही दिया जिसकी उन्हें अत्यधिक तलाश थी। जैसा कि गीता में कहा गया है—"किसी भी ज्ञानी व्यक्ति को चाहिए कि वह शास्त्रविहित कर्मों में आसक्तिवाले अज्ञानी में कर्मों में अश्रद्धा उत्पन्न न करें। किन्तु स्वयं शास्त्रविहित समस्त कर्मों को भली-भांति करता करता हुआ उनसे भी वैसा ही करवाये"। (3.26)

श्रीनारायण गुरू ने यह देखा कि "आवर्ण" अपने पूर्वजों, जनजातीय वीर-वीरांगनाओं, करुण कथाओं के पात्रों को पूजते थे जिनकी जीवन कथा ग्रीक-दुखान्तों की तरह उदात्त थीं। इसके अतिरिक्त वे पहाड़ियों, चट्टानों, पाषाणों, नदियों, सर्पों तथा उन अन्य भयानक जीवों, भूतप्रेतों को पूजते थे जो महामारी फैलाते थे और जीवन में सभी प्रकार की विपत्तियाँ पैदा करते थे। वे इनके कारणों को समझते थे और इनके विरुद्ध उन्होंने कभी भी कुछ नहीं कहा। फिर भी वे उन लोगों को सहन नही कर पाते थे जो पूजा के नाम पर मद्यपान करते थे या जो पशु बलि में विश्वास रखते थे। यह भ्रष्टाचार था जिसे समाप्त करने की आवश्यकता थी और जहाँ कहीं भी उन्हें इनका सामना करना पड़ा वहाँ उन्होंने उन्हें रोक दिया। इन्होंने कभी भी इसके लिये भाषण नहीं दिये। उन्होंने सामान्य शब्दों में कहा—"हमें इसे समाप्त करना ही है" और जनता ने उनकी बात मानी। सौ से अधिक स्थानों में उन्होंने उन देवताओं की मूर्तियों को हटा दिया जिनका नाम पक्षीवध और मदिरापान के साथ जुड़ा था। उनके स्थान पर उन्होंने शिव, सुब्रह्मणयम् और गणेश की मूर्तियाँ स्थापित कीं और उनके अनुरूप वैसी ही पूजा-व्यवस्था की जैसी उनको समर्पित मंदिर में होती है। धर्म शब्दावली में ऐसी पूजा "उत्तम पूजा" कहलाती है।

इस लेखक के पारिवारिक घर के निकट के गाँव में गुरू एक पूजास्थल में उस समय आये जब मदिरापान पूरे जोरों पर चल रहा था। मंदिर के व्यवस्थापक हाथ जोड़ कर खड़े हो गए और उनका एक विशिष्ट अतिथि की भाँति सत्कार किया। उन्होंने अपने हाथों से आसन को साफ कर उसे ग्रहण करने के लिए अनुरोध किया। जब गुरू ने शांत-भाव से कहा कि वह बर्बर प्रथाएँ बन्द होनी चाहिए तो उन्हें उनका विरोध करने की हिम्मत नहीं हुई। पर जो पुजारी उस समय पूरी तरह नशे में थे क्या वे गुरू की बात से सहमत हो सके? अपने ही बीच गुप्त मंत्रणा के बाद उन्होंने सारा दोष 'चाथन' देवता पर डाल दिया।

उन्होंने उत्तर दिया—"स्वामी! हमें कोई आपत्ति नहीं है पर हम चाथन देव

को अप्रसन्न करने से डरते हैं।"

गुरू मुस्कराए और बोले—"हम चाथन की जिम्मेदारी लेते हैं क्या आप लोग चाथन मैस्त्री को संतुष्ट कर पायेंगे ?"

यह कहने की आवश्यकता नहीं कि इस पशु-बलि से होने वाली सारी आय चाथन मैस्त्री को जाती थी। गुरू मुस्कराए, व्यवस्थापक हंसे और जनसमुदाय ठहाका लगा कर हंस पड़ा। यह हंसी इतनी बढ़ती चलती गई कि चाथन मैस्त्री के पाँव उखड़ गये। उन्होंने सहमति दे दी। इस प्रकार मदिरा-पान और पशु-बलि अनुष्ठान उस मन्दिर में समाप्त हो गए। जनता घर लौट आई और उसने घर के शान्त वातावरण में विचार किया कि कैसे निहित स्वार्थी ने समूचे विश्व में धर्म को भ्रष्ट कर दिया है। एक बार फिर गुरू ने अपने विनोदपूर्ण कथनों से ऐसे नासूर फोड़े की शल्य-क्रिया कर दी।

श्री नारायण मंदिरों की स्थापना के पीछे गुरू की क्या धारणाएँ थीं ? इस प्रश्न का समाधान उन वार्ताओं से मिल जाता है जो उन्होंने धार्मिक समुदाय के नेताओं से की थीं।

अध्याय 8

श्री नारायण मन्दिर

जैसा कि हम पहले पढ़ चुके हैं कि अवर्णों के अनुष्ठानों की पूजा में जो ह्रास आ गया था उसे दूर करने के लिए गुरू ने कार्य किया। उन्होंने उनके देवी देवताओं के विरुद्ध कभी कुछ नहीं कहा और न ही कभी उनकी उन दन्त-कथाओं की आलोचना की जो उनकी पूजा की आधार थीं। हाँ, उन्होंने पूजा के तौर-तरीकों के खिलाफ आवाज उठायी। वे तो उन प्राचीन मूर्तियों को बदलना चाहते थे जिनका सम्बन्ध पशुबलि अथवा मदिरा से था और उनके स्थान पर वे उन देवताओं की मूर्तियों को रखना चाहते थे जिनका सम्बन्ध ऐसी चीजों से नहीं था।

जनता जिस पथ पर चल रही थी उन्होंने उस पथ को देखा, उनकी प्रगति को देखा और उन्होंने इस विश्वास के साथ उनका नेतृत्व किया कि वे उनको जहाँ ले जाना चाहते हैं ले जा पायेंगे। (उनका यह नेतृत्व ठीक वैसा ही था जैसे कोई) चतुर नाविक ज्वार-भाटे के साथ-साथ नौका को खेता हुआ जपने गन्तव्य तक जाता है।

उन्होंने इन लोगों उच्च वर्गों के मंदिर के बाहर एक निश्चित फासले पर इकट्ठे होते देखा था और कपड़े के टुकड़ों में अपनी भेंट को बाँध कर दीवार के ऊपर से दूसरी ओर फेंकते हुए देखा था। (उसी तरह) दीवार की दूसरी ओर से प्रसाद उनके पास फेंका जाता था।

यदि यही वह मार्ग था जिस पर चलने के लिए वे उत्सुक थे तो इसमें उन्हें कोई आपत्ति नहीं थी लेकिन अगर मंदिरों में उनका प्रवेश वर्जित था तो वे उनके लिए मंदिर बनायेंगे। वस्तुतः ऐजावाओं के लिए वैसे ही मंदिरों का निर्माण कर उन्होंने ऐसा ही किया। सभी श्री नारायण मंदिर उसी तरह के होते हुए भी वहाँ के पुराने मंदिरों से भिन्न थे।

मंदिरों के कार्य

उन्होंने बहुत-सा पैसा खर्च पुराने तरीके के मंदिरों के निर्माण की आवश्यकता महसूस नहीं की। उनका विचार था कि त्यौहारों, आतिशबाजी और अन्य ऐसे खर्चीली चीजों पर धन का अपव्यय नहीं होना चाहिए। उनके विचार में खुले हवादार कमरे अधिक अच्छे होंगे जिनमें लोग आसानी से इकट्ठे होकर धार्मिक प्रवचन सुन सकें। हर मंदिर के इर्द-गिर्द बगीचे होने चाहिए। मंदिर के साथ-साथ उसमें स्कूल और तकनीकी स्कूल भी होने चाहिए। चढ़ावे के रूप में जो पैसा आये उसे लोगों के कल्याण के लिए ही खर्च करना चाहिए।

उनके विचार में जहाँ तक सम्भव हो सके मंदिरों के आसपास तालाब न खोदे जायें क्योंकि इनकी बहुत कम सफाई हो पाती है। इनके बदले नल वाले स्नान-गृह अधिक उपयुक्त होंगे।

श्री नारायण मंदिर नियम के रूप में साफ-सुथरे रखे जाते हैं। उनके इर्द-गिर्द सुन्दर बाग-बगीचे होते हैं और मंदिर के तालाबों में साफ पानी होता है। इन मंदिरों के साथ स्कूल जुड़े हुए हैं जिनमें प्राथमिक से लेकर हाई स्कूल तक की कक्षाएँ होती हैं। इतना ही नहीं इनमें कुछ तकनीकी स्कूल, सेवारत महिलाओं के लिए आवास-व्यवस्था, धर्मग्रन्थों के लिए पुस्तकालय और कुछ अन्य संस्थाएँ तो तो हैं ही अन्य अनेक संस्थाओं का भी लगातार निर्माण हो रहा है।

इनके पुजारी निम्न वर्गों के सदस्य हैं हर एक ने तंत्र, मंत्र, शास्त्र, वेद, उप-निषद् एवं आध्यात्म दर्शन में नौ साल का सफलता पूर्वक प्रशिक्षण लिया होता है। इस शिक्षा पद्धति का उद्देश्य यह है कि प्रत्येक पुजारी को धार्मिक शिक्षा का गहन अध्ययन कराया जाए। उन्हें ऐसा पुजारी नहीं बनाया गया है तो तोते की तरह रटे मंत्रों से यंत्रवत अनुष्ठानों को करवाते हैं।

श्रीनारायण गुरू ने उन तथाकथित आधुनिकतावादी व्यक्तियों की इस बात को स्वीकार नहीं किया कि मंदिर की यह इमारत शीघ्र ही बेकार हो जाएगी।

गुरू ने कहा—"ऐसा कैसे सम्भव है ? मंदिरों को साफ-सुथरा रखना चाहिए। लोग वहाँ आयेंगे, स्नान करेंगे और ताजगी का अनुभव करेंगे, साफ-सुथरे कपड़े पहनेंगे। इस प्रकार पूजा के लिए इकट्ठे हुए लोगों के मन में सद्विचार पैदा होंगें। उनकी बातचीत शीघ्र ही उत्तम विचारों में बदल जायेगी। वे स्वच्छ हवा का सेवन करेंगे और भगवान का स्मरण करेंगे। इनमें से कुछ पूजा करेंगे और कुछ व्रत रखेंगे। इस सबसे वे पायेंगे कि उनकी सांसारिक चिन्ताओं का शमन हो रहा है और उन्हें मानसिक शान्ति मिल रही है। यही विश्वास दूसरों में भी (मन्दिरों के प्रति) आकर्षण पैदा करेगी। सभी कुछ तो विश्वास पर निर्भर है। क्या ये सब इसके लाभ नहीं है ? अत: मंदिर तो आवश्यक है। हाँ उनका

दुरुपयोग न कीजिए तभी आप उनकी उपयोगिता का पता लगा पायेंगे।

इन सब लोभों के बाद भी यदि कभी ऐसा समय आ जाए जबकि लोगों को ऐसे मंदिरों से विश्वास उठ जाए तब क्या होगा ? स्वामी जी ने ऐसी आपत्तियों के विषय में भी पहले से ही निर्णय ले लिया था।

ऐसे समय में इन मंदिरों की इमारतों का दूसरे कामों के लिए इस्तेमाल किया जा सकता है। भोजन की तरह, इमारतों की भी हमेशा जरूरत होती है। खाना तो खाने के बाद समाप्त हो जाता है पर इमारतें लगातार इस्तेमाल के लिए बनी ही रहती हैं। यह अलग बात है कि अलग-अलग समय पर उनका प्रयोग अलग-अलग ढंग से किया जाता है। गुरू जी ने विभिन्न अवसरों पर यहाँ तक सुझाव दिए थे कि इन मंदिरों का स्कूलों, पुस्तकालयों, सभा-कक्षों और सूत कातने के लिए स्थलों के रूप में भी इस्तेमाल किया जा सकता है।

बीसवीं शताब्दी में भगवान में बढ़ते हुए अविश्वास से वे अनभिज्ञ नहीं थे। इसलिए जो लोग उनके पास मंदिरों की स्थापना के लिए आये थे उनसे उन्होंने पूछा—

"क्या अब भी लोग मंदिरों को चाहते हैं ? क्या लोग मुझ पर पत्थरों को इकट्ठे करने का आरोप नहीं लगायेंगे।"

लोगों ने उत्तर दिया "हमें इनकी आवश्यकता है।" और इस प्रकार उन्होंने वही दिया जो वे चाहते थे।

मूर्ति पूजा का मुख्य प्रयोजन

मूर्ति पूजा हिन्दू धर्म में एक निम्न सोपान है,
भगवान् के साथ तादात्यम उच्चतम सोपान है
दूसरा है—ध्यान और ज्ञान
तीसरा, मूर्ति पूजा
और चौथा है, तीर्थयात्रा एवं होम।

यह संस्कृति की प्रथम उक्ति है जिसे डा० राधाकृष्णन उद्धृत किया करते थे। स्वामी जी ने अनुभव किया कि अब समय आ गया है जब लोगों का ध्यान पूजा के इन उच्च सोपानों की ओर दिलाया जाए। उन्होंने इस दर्शन का प्रचार नहीं किया जिसमें वे स्वयं जिये थे। यह मानते हुए कि मूर्तियाँ वे प्रतीक हैं जो ध्यान लगाने के लिए सहायक होती हैं उन्होंने विभिन्न प्रकार की मूर्तियों के मन्दिर बनवाये।

भारतीयों ने सदा अपने प्राचीन विश्वासों को बनाये रखा है और उन्हें इस प्रकार ढाला है, चाहे उनमें कुछ तोड़-मरोड़ करना पड़ता है, कि उनमें नवीन

समाज-दर्शन का स्पष्ट प्रतिबिम्ब झलक सके या वह नवीन आध्यात्मिकता के अनुरूप बैठ सकें। धर्म के नेता कम से कम शिक्षित वर्ग में तो इन विश्वासों को पहुँचाने में सफल हुए हैं। इसका कारण यह है कि भारतीय अपने धर्म एवं धार्मिक विश्वासों में जीते हैं इसलिए इनका सामाजिक जीवन से गहरा सम्बन्ध होता है। 19वीं शताब्दी में स्वामी दयानन्द सरस्वती, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, विवेकानन्द, राजा राममोहन राय आदि ने उपनिषदों के परिप्रेक्ष्य में पौराणिक कथाओं की व्याख्या की। इससे उनका उद्देश्य यह था कि जिस आधुनिक जागरण का प्रवर्तन उन्होंने हिन्दू धर्म में किया था उसके अनुरूप इन प्राचीन मिथों को लाया जाये। जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि आदि भौतिक विचारों को व्यक्त करने के लिए प्रतीक के रूप में मिथ को आधारभूत सामग्री की तरह प्राचीन-काल से प्रयुक्त किया जा रहा है। दूसरे शब्दों में शिक्षित वर्ग ने प्राचीन विश्वासों एवं देवताओं को स्वीकार किया। साथ ही उन्होंने उचित परिवर्तनों के साथ नवीन आध्यात्मिक पद्धति में इन विश्वासों आदि को श्रुतियों के द्वारा ढाला भी।

ये श्रुतियाँ हमें बताती हैं कि किस प्रकार ग्राम्य देवी का विकास आदि शक्ति की मूल स्रोत महाशक्ति के रूप में, उसके पति शिव के रूप में और फिर ब्रह्माण्ड के स्वामी विष्णु के रूप में होता गया।

इन सब परिवर्तनों से पुरानी और सीधी-सादी चमत्कारपूर्ण और रहस्यमयी कथाएँ जटिल संकल्पनाओं में बदल गयीं जिससे सामान्य व्यक्ति भ्रमित हो गया है। इस प्रकार से वे उन प्राचीन विश्वासों की ओर फिर लौट गये जिनकी पूजा पद्धति को वे अच्छी तरह से जानते थे। केरल के अवर्ण जिन देवताओं एवं मूर्तियों की आराधना करते हैं वे इसी प्रकार के धर्म से सम्बद्ध हैं।

अवर्णों का विश्वास था कि वे देवता भगवान थे, असुर नहीं। इस धर्म से इतर लोग—भले ही वे भारतीय क्यों न हों—को पहले इस बात को समझने में वैसे ही कठिनाई होती है जैसे यूरोप के लोगों को पहली बार हिन्दू धर्म को समझने में होती है। इतना ही नहीं जिन भारतीयों ने इन हिन्दू-पूर्व धर्मों का अध्ययन किया है उन्होंने इसको पाश्चात्य वैज्ञानिक दृष्टि से देखा है।

स्थानाभाव के कारण यहाँ केवल एक ही उदाहरण से इस बात को स्पष्ट किया जाएगा कि इस धर्म के अनुयायी इसे किस तरह से देखते हैं। पाश्चात्य वैज्ञानिक दृष्टि वाले लोग बड़ी शिष्टता से कहते हैं—"उनकी देवी भयंकर है और यह बच्चों को खा जाती है।"

उस समाज में जहाँ प्रत्येक गर्भ का अर्थ है, नौ मास तक जिज्ञासा, प्रत्येक जन्म का अर्थ है, मौत के मुँह से बाल-बाल बचना, प्रत्येक बचपन का अर्थ है,

जीवन से निरन्तर संघर्ष, वहाँ प्रकृति एक भयंकर देवी का रूप धारण कर लेती है जो बच्चों को निगल जाती है (ऐसी मान्यता स्वाभाविक ही है) हमें हिन्दू-पूर्व देव के इस रूप तक पहुँचने के लिए शेक्सपीयर के कथन "प्रकृति के नख विकराल हैं" को समझने के लिए उसका चित्रण करना पड़ेगा। इसी तर्क से केरल के अन्य देवताओं के रहस्य को भी स्पष्ट किया जा सकता है। वे किसी अर्थ में दानव नहीं हैं। लोगों ने उनकी कल्पना भगवान के रूप में की है।

जिस समय गुरू ने विश्वासों में क्रान्तिकारी परिवर्तन लाने का अभियान शुरू किया उस समय केरल में उनकी सहायता के रूप में अनेक अन्य उपादानों ने भी उनका मार्ग प्रशस्त किया। उन्होंने परिवर्तन के जो बीज बोये थे वे न तो पत्थरों पर और न रेत पर और न ही काँटों में बोये थे बल्कि वह तो एक उपजाऊ भूमि थी। उदाहरण के लिए प्रसूति पूर्व देख-रेख की उत्तरोत्तर वृद्धि आदि से प्राचीन देवी-देवताओं के विनाशकारी रूप को क्रमशः समाप्त कर दिया गया। अब प्रश्न है उनका स्थान कौन लेगा ? और किससे उनका स्थानापन्न किया जाएगा ? वस्तुतः इस सबके लिए केरल एक ऐसे सन्त की प्रतीक्षा में था जो इस संसार रूपी सागर को पार कर चुका हो और ये सब परिवर्तन करने के लिए दूसरी ओर पहुँच चुका है।

जब श्री नारायण गुरू का आगमन हुआ तब उन लोगों ने उनका मुक्तभाव से स्वागत किया जो परिवर्तन के इच्छुक थे। पहले चरण के रूप में गुरू जी ने लोगों के समक्ष "आर्यदेवता की संकल्पना रखी और फिर क्रमशः उन्हें मन्दिरों की उस शृंखला के माध्यम से उत्तरोत्तर ऊपर लेते चले गये जहाँ इन प्रतीकों ने जनमानस में सार्थक रूप धारण कर लिया। इसकी परिणति अलवै में स्थित अद्वैत आश्रम में आस्तिकों के—चाहे वे किसी जाति के थे—एक ऐसे स्थल के रूप में हुई जहाँ वे एक साथ मिल-बैठ सकते थे, आपस में चर्चा कर सकते थे, प्रार्थना कर सकते थे और साथ-साथ रह सकते थे। इन मन्दिरों की कहानी सुनाने के लिए एक अध्याय लिखने की आवश्यकता है।

अध्याय 9

मूर्तिपूजा का विकास

श्री नारायण गुरू अब लाखों लोगों के मान्य गुरू थे। उन्होंने उनके प्रभाव से मदिरापान और पूजा में पशु बलि करना त्याग दिया। बहुतों ने तो यहाँ तक मान लिया कि पहले से चले आ रहे परम्परावादी हिन्दू देवगणों को वे बदल देगें तथा उन्होंने इसके लिए गुरू जी से सहमति ही नहीं ली बल्कि उनके करकमलों से उनके स्थान पर शिव, सुब्रह्मणयम् या गणेश की स्थापना भी करवायी।

अरविपुरम् में शिव मन्दिर की प्रतिष्ठा के पश्चात् गुरू जी ने वैकोम के चिरायनकिजू नामक स्थल पर देवश्वरम् मन्दिर की स्थापना की। यहाँ के देवता हैं शिव पुत्र—सुब्रह्मणयम्।

1893 में उन्होंने त्रिवेन्द्रम के उत्तर में कुलाथुर में प्राचीन भगवती मन्दिर के स्थान पर शिव की मूर्ति को प्रतिस्थापित किया। अन्तर्राष्ट्रीय पर्यटक केन्द्र के रूप में प्रसिद्ध कौवलम् के निकट ही कुन्नुमपारा मन्दिर की स्थापना की। यह मन्दिर महत्वपूर्ण मन्दिरों में अपना स्थान रखता है। यह एक प्रपाती शिला पर बना हुआ है और इसका निर्माण अनगढ़ पत्थरों से बहुत ही सुन्दर ढंग से हुआ है। चट्टानों के बीच साफ पानी का एक चश्मा है। जो कोई भगवान् सुब्रह्मणयम् के इस मन्दिर के प्रांगण में खड़ा होगा उसका मन इस चट्टानी पहाड़ी के दैवी सौन्दर्य को देखकर आह्लादित हो उठेगा। चट्टान के ऊपर स्थित इस मन्दिर और सागर के भव्य दृश्य को देखकर उसका मन स्वयं मौन आराधना के लिए प्रेरित हो उठेगा और वह वहाँ करबद्ध पूजा की मुद्रा में खड़ा हो जाएगा।

वास्तव में गुरू, श्री नारायण मन्दिरों के लिए प्रायः उन्हीं स्थलों का चयन करते थे जो अलौकिक सौन्दर्य से परिपूर्ण हों। इसीलिए और इसी प्रकार उन्होंने केरल के अत्यन्त सम्मोहक स्थल वरकला को अपने धार्मिक मुख्यालय के लिए चुना था।

वरकला

1904 में जब गुरू जी वरकला में आये तो उसकी पूर्वी पहाड़ी के अभूतपूर्व सौन्दर्य ने उन्हें इतना मोहित किया कि उन्होंने वहाँ एक छोटी-सी पर्णशाला बनायी और शाक-वाटिका लगायी। प्रकृति का अदम्य सौन्दर्य भारतीय सन्तों को चिरकाल से अपनी ओर आकृष्ट करता रहा है। दूसरे शब्दों में माँ प्रकृति, संन्यासियों को सदैव अपनी ओर आकर्षित करती रहती है जबकि वह सांसारिक आकर्षण से अपने आपको असम्पृक्त रखना चाहते हैं।

गुरू जी एकाकी ध्यान में कुछ दिन से अधिक नहीं रह सके। लोगों को उनकी उपस्थिति का ज्ञान हो गया। पहले वे दो-दो, तीन-तीन की संख्या में आये और फिर शीघ्र ही बड़ी सख्या में उनके पास आने लगे।

गुरू जी के लिए वहाँ कुछ सरकारी जमीन खरीदी गई और कुछ दानी जमीन-दारों ने उन्हें आस-पास की जमीन दान कर दी ताकि गुरू जी अपनी इच्छानुसार उसका इस्तेमाल कर सकें।

कुछ ही समय में वहाँ इतने अधिक लोग आने लगे कि वरकला एक तीर्थस्थल बन गया। सदियों से इस स्थल का अपना ही महत्व रहा है और इसे दक्षिण का वाराणसी कहा जाता है। श्रावण मास में शुक्ल पक्ष की प्रथमा से बहुत बड़ी संख्या में लोग समुद्र-तट के आसपास प्राचीन जनार्दन मन्दिर में अपने पूर्वजों का श्राद्ध करने के लिए इकट्ठे हुआ करते थे। पुजारी लोग अवर्णो (एवं अन्य लोगों) को ठगते थे। सही ढग से अनुष्ठान किए बिना उनसे पैसे लूटते थे। 14 अगस्त 1904 को गुरू ने उन लोगों के लिए अनुष्ठानों को उचित ढंग से करवाने की व्यवस्था की जो वरकला की शिवगिरि पहाड़ी पर आया करते थे। इस प्रकार उन्होंने लोगों को ठगे जाने से बचाया।

इस तरह से जो आमदनी हुई उससे दो साल बाद एक स्कूल खोला गया जिसमें सब प्रवेश पा सकते थे। साथ ही कुरावा जाति के लिए और उन सब के लिए रात्रि स्कूल भी खोला गया जो दिन में स्कूल नहीं जा सकते थे।

1912 में वैदिक विद्यालय के साथ-साथ एक सरस्वती मंदिर की भी स्थापना की गई। वास्तव में उन्होंने अन्य स्थलों पर मन्दिरों की स्थापना लोगों के अनुरोध पर की थी जबकि शारदा मठम् के नाम से प्रसिद्ध सरस्वती मन्दिर तथा वैदिक विद्यालय की स्थापना गुरू जी ने स्वयं अपनी इच्छा से की।

उद्घाटन दिवस का समारोह उस भूभाग में हुऐ भव्यतम समारोहों में से एक था। इतना अपार जनसमुदाय आया था कि ऐसा लगता था जैसे जलसागर उमड़ पड़ा हो। 20,000 से अधिक के इस अपार जनसमुदाय को काबू करने के लिए किसी भी पुलिसवाले की आवश्यकता नहीं थी। सम्पूर्ण पहाड़ी झाड़ियों एव रंग-

बिरंगे तोरणों से सुसज्जित थी । सुसज्जित हाथियों के मस्तक स्वर्ण जड़ित आभूषणों से मंडित थे और इन मस्तकों से डूबते हुए सूर्य की पीली-पीली, लाल-लाल किरणें टकराकर एक अविस्मरणीय छटा पैदा कर रही थीं। ढोल, वाद्य संगीत, लोकगीत, लोकनृत्य एवं शोभायात्रा से एक ऐसा अनुभव हो रहा था जिसका वर्णन कुमारन आशन ने इस प्रकार किया है—"यह एक ऐसा अलौकिक दृश्य है जिसे एकत्रित अपार जनसमूह में किसी ने भी नहीं देखा था।"

गुरू के महान् शिष्य, ऐजावाओं के नेता एवं उस समारोह के अध्यक्ष - सी० कृष्णन् के शब्दों में "यह पहाड़ी हम लोगों के लिए श्रृंगेरी के शंकराचार्य द्वारा स्थापित चार मठों का मुख्यालय होगी । यह हमारे सभी प्रयासों में आकाशदीप की तरह मार्ग-दर्शक होगी। हम दलितों में जागृत और पारस्परिक सहयोग पैदा करने एवं समृद्धि लाने का कार्य करेगी । इस मन्दिर की स्थापना से गुरू जी ने यह दिखा दिया कि मूर्ति पूजा हिन्दू धर्म का सर्वस्व नहीं है । यहाँ किसी प्रकार की परम्परावादी पूजा नहीं होती । इसे क्षेत्र (मन्दिर) की अपेक्षा मधोम (मठ) के रूप में जाना जाता है । यह अष्टभुजाकार है और इसमें अनेक रंग-बिरंगे काँच के टुकड़े लगे हुए है जो सूर्य की किरणों से टिमटिमाते हैं और रंग-बिरंगे हल्के-हल्के प्रकाश से भीतरी भाग को जगमगा देते हैं। इतना ही नही इसके इर्द-गिर्द की अर्द्ध गोलाकार दीवार से ऐसी प्रतीति होती है मानो मधोम को चाँदी की थाली पर रखा गया हो । श्वेत धवल बालू, स्वच्छ और धूल रहित फर्श जैसे आप को स्वयं अपने जूते उतारने के लिए इतना बाध्य कर देता है कि वहाँ लगे सूचना पट्ट की ओर ध्यान देने की जरूरत ही नहीं पड़ती ।

संगमरमर के कमल पुष्प पर वहाँ सरस्वती अथवा शारदा की भव्य मूर्ति स्थापित है । यह मूर्ति मानो गुरू जी के संदेश—"शिक्षा दो और ज्योतिर्मय हो"—का साकार रूप है । यहाँ न तो किसी प्रकार के भोज्य पदार्थ का चढ़ावा चढ़ाया जाता है, न ही कोई उत्सव होता है, न ही कोई शोभा यात्रा निकलती है और न ही किसी प्रकार की पूजा होती है। यहाँ तो भक्तजन शारदा देवी के दर्शन कर सकते हैं, देवी को अपने श्रद्धा सुमन चढ़ा सकते हैं, भजन कर सकते हैं या ध्यानावस्था में लीन हो सकते हैं ।

भिन्न प्रकार का मन्दिर

करामुक्कू मन्दिर में प्रतीक के रूप में एक प्रज्ज्वलित दीप ही है।

वेद, उपनिषद् एवं हिन्दू धर्म के अन्य सभी ग्रन्थ आध्यात्मिक उत्थान में "तमसो मा ज्योतिर्गमयम" की बात कहते हैं। गुरू ने—प्रकाश भव कह कर उस ज्योति दीप को एक वेदी पर रख दिया ।

जब ज्योति दीप जलता है तो हमें उस सत्ता की गहन अनुभूति होती है। कोई भी शुभ कार्य दीप को प्रज्ज्वलित किए बिना नहीं होता। यह बात सभी धर्मों के लिए सत्य है यहाँ तक कि उनके लिए भी जो इन प्रतीकों की आवश्यकता को नहीं मानते हैं।

मुरुकुमपघा मन्दिर में गुरू जी ने एक शिला को स्थापित किया जिस पर "सत्य धर्म, दया, स्नेह" (शब्द) खुदे हुए थे। अगर कोई चीज आपको एकाग्र चित्त करनी है तो वह है—विचार। जितने महान् विचार को प्रतीक उत्पन्न करता है उसका प्रभाव उतना ही अधिक होता है।

प्रतीकों की कल्पना की पराकाष्ठा गूढ़ अक्षर—"ओम" में है। कालावनगोदे मन्दिर में उन्होंने भक्तों से एक दर्पण मांगा और एक कलाकार को दर्पण के पीछे लगे पारे को इस प्रकार से हटाने के लिए कहा कि सामने "ओम" शब्द उभरकर आ जाए। इस प्रकार "ओम" इस मन्दिर का प्रतीक बन गया। बहुत से लोगों ने यहाँ के प्रतीक को मात्र दर्पण के रूप में मानने की भूल की है। वस्तुतः वहाँ का प्रतीक दर्पण नहीं उस पर खुदा हुआ शब्द "ओम" है।

ओम

हिन्दू धर्म में "ओम" शब्द के महात्म्य से सभी अवगत हैं। कठोपनिषद में कहा गया है—"वह शब्द जिसे सभी वेद प्रतिपादित करते है, जिसे सम्पूर्ण तपस्या प्रतिपादित करती है और जिस पर सभी साधक धर्म जिज्ञासु का जीवन व्यतीत करने के लिए अनुष्ठान करते हैं, ध्यानस्थ होते है, वह शब्द मैं संक्षेप में तुम्हें बताता हूँ। वह है—"ओम" माण्डूक्यो उपनिषद् के अनुसार "भूत, वर्तमान एवं भविष्य, यह सभी एक अक्षर है—"ओम" इसके अतिरिक्त जो कुछ कालातीत है वह सब भी एक अक्षर "ओम" है।"

गुरू जी ने "ओम" शब्द का जो अभिषेक किया है उसका अनुपालन करने के बाद भक्तों के लिए और क्या रह जाता है। हाँ, सिवाय इसके कि वे स्वयं में ब्रह्म का अनुभव करें।

इस प्रकार हम अलवै में गुरू जी के द्वारा स्थापित अद्वैत आश्रम तक पहुँचते है।

अद्वैत आश्रम

शिवगिरि की व्यवस्था को सुधारने के बाद गुरू जी ने अलवै में अद्वैत आश्रम की स्थापना की। इस भवन का स्थान भी बहुत आकर्षक है। वास्तुकला की दृष्टि से यह सादा है। इनमें एक आराधना कक्ष है जहां हिन्दू, ईसाई एवं मुस्लिम अपने-

अपने धर्म के अनुसार पूजा कर सकते हैं और करते भी हैं। आश्रम में एक संस्कृत स्कूल है जिसमें ईसाई एवं मुस्लिम छात्र भी अध्ययन करते हैं। इससे संलग्न छात्रावास में भी सभी धर्मों एवं जातियों के लोगों को बिना किसी भेदभाव के स्थान मिलता है। वहाँ एक स्कूल भी चल रहा है। उसके नाम के अनुरूप, अद्वैत आश्रम में किसी मन्दिर या मूर्ति अथवा इसी प्रकार की कोई चीज रहीं है। यहाँ विद्यार्थी धर्म साहित्य का अध्ययन करते हैं और आश्रम के पुस्तकालय में सभी धर्मों की पुस्तकें उपलब्ध हैं।

अध्याय 10

मानव का एक धर्म

श्री नारायण गुरू के जीवन एवं आचरण से यह स्पष्ट है कि वे शुद्ध एवं सहज वेदान्ती थे। उन्हें उस ईश्वरीय सत्ता का अनुभव योग द्वारा हुआ था जिसमें सभी विरोध और प्रतिवादों, यहाँ तक कि अस्ति-नास्ति, का भी समाधान हो जाता है। अपने उसी अनुभव के आधार पर उन्हें यह अनुभूति हो गई थी कि जन-सामान्य के धर्म के छोटे-छोटे संसार और देवता, संदर्भ और प्रतीकों के विभिन्न-स्तर हैं। ये न तो स्थान और न ही व्यक्ति सापेक्ष है बल्कि ये तो आत्म-ज्ञान के सोपान मात्र थे। "पुराणों आदि में जिन घटनाओं या पात्रों का वर्णन किया गया है भले ही वे सभी ऐतिहासिक दृष्टि से प्रामाणिक न हों लेकिन वे धर्मशास्त्रों की सर्वोच्च वास्तविकता को लिए हुए हैं।" महापुराण श्रीमद्भागवत का कथन है कि इन कक्षाओं को अक्षरश: सत्य नहीं माना जा सकता। इनका उद्देश्य केवल मनुष्य को ज्ञान और निरास्क्ति की ओर ले जाना मात्र है। इन और इसी प्रकार के अनेक अन्य महान् सत्यों को गुरू ने जनसामान्य को शिव, सुब्रह्मण्य, गणेश की मूर्तियों एवं प्रज्ज्वलित दीप के द्वारा समझाया। इसके साथ ही साथ उन्होंने उस फलक जिसपर महान् विचार अंकित थे के द्वारा उसी महान् सत्य के दर्शन कराये। इनके अतिरिक्त वह दर्पण जिसपर अलौकिक अक्षर "ओम" अंकित था द्वारा भी यह कार्य सिद्ध किया गया। इन सबसे बढ़कर वह अद्वैत आश्रम है जहाँ विभिन्न विश्वासों के भक्त एक ही प्रार्थना-सभा में ध्यान लगाने आते, एक ही सत्य की प्राप्ति के लिए साथ-साथ अध्ययन करते और निवास करते हैं।

उन्होंने यह ज्ञान मूर्तियों एवं विना मूर्तियों को सम्बल बनाये, करवाया। यह समूचा कार्यक्रम मूर्तिपूजा का उत्कृष्ट उदाहरण था। स्वामी जी ने सोचा कि इस प्रक्रिया से लोगों को यह पता लगेगा कि अब तक वे जिन धार्मिक रीति-रिवाज

को अपनाते आ रहे हैं वे देवताओं की अद्वैतता के चक्षुश: प्रमाण हैं और यही वेदान्तवादी धारणा है। उन्हें तो केवल उस पथ पर चलना मात्र होगा। रास्ता रास्ता तो उनके लिए पहले से ही खुला है।

श्री नारायण गुरू ने अपने विचारों को जैसा ठोस रूप दिया था वैसा किसी अन्य साधु या सन्त ने नहीं दिया था। इस प्रकार जिस ढंग से वे मूर्ति-पूजकों को समझाते थे वह अद्वितीय था। वे उन्हें यह सिखाते कि वे चिर प्रचलित अनुष्ठानों को किस प्रकार अच्छी भावना से समझ सकता है क्योंकि यही भावना आगे चलकर अनेक आध्यात्मिकता के मार्ग प्रशस्त करेगी।

जैसा कि आनन्द कुमार स्वामी ने कहा है—"ईश्वर को समझने के लिए विश्वास करना पड़ेगा और उसपर विश्वास करने के लिए उसे समझना पड़ेगा।" यह आध्यात्मिकता के मार्ग पर आने वाले अन्तर्विरोधों में से एक है। मूर्ति पूजा से एक ओर यह बात स्पष्ट हो जाती है कि " उसे समझने में विश्वास मार्गदर्शक है" किन्तु दूसरी ओर इस बात की पुष्टि नहीं होती कि "विश्वास करने के लिए समझना जरूरी है। वस्तुत: दोनों ही प्रक्रियाएं एक दूसरे को प्रभावित करती हैं और एक साथ चलती हैं। यहाँ उनका अलग-अलग विवेचन केवल इसीलिए किया जा रहा है क्योंकि इस सामाजिक संकल्पना के विश्लेषण के लिए यही एक मात्र तर्कसगत तरीका है।

श्री नारायण गुरू के महानतम शिष्यों में से एक सी०वी० कुनहुरमन थे। वे अच्छे विचारक, विद्वान्, समाज-सुधारक और दीप्तिमान लेखक थे। इनकी अपने लेखन में तीखी पैठ थी। इनका गद्य हास्य-विनोद से ओतप्रोत से, आकर्षक और मधुर था। वे स्वामी जी के अनन्य शिष्यों में से एक थे। जिन्होंने सामाजिक चेतना क्रान्ति ला दी तथा केरल के धार्मिक वातावरण में भी आमूलचूल परिवर्तन कर दिया। इस अर्थ में वे गुरू के सच्चे मूर्ति पूजक भक्त थे। इतने पर भी वे किसी भी बात को भले ही वह गुरू ने स्वयं क्यों न कही हो—तब तक मानने के लिए तैयार नहीं होते थे जब तक वे तर्क के द्वारा उससे संतुष्ट नहीं हो जाते थे। "केरल कौमुदी" नामक उनका साप्ताहिक पत्र उस समय का सबसे अधिक प्रचलित पत्र था जिसे जन-सामान्य बड़ी उत्सुकता से पढ़ता था। वे चाहते थे कि उनके पाठ गुरू की शिक्षा को तर्क पर आधारित करके स्वीकार करें। स्वामी जी ने इस बात को स्वीकार किया और लिखा :

"सभी धर्मों का उद्देश्य एक ही है। एक बार जब सब नदियाँ समुद्र में मिल जाती हैं तो एक हो जाती हैं, उनका अन्तर लुप्त हो जाता है।"

"धर्म का उद्देश्य मनुष्य के विचारों का परम सत्य की ओर उत्थान है। इसको पा लेने के बाद, हर व्यक्ति अपना मार्ग स्वयं ही पा लेगा।"

"जिस व्यक्ति ने परम सत्य पा लिया हो उसे धर्म की सहायता की आवश्यकता नहीं पड़ती। वह अन्य लोगों के लिए धर्म का स्रोत बन जाता है।"

"महात्मा बुद्ध ने बौद्ध धर्म का अध्ययन कर उस परम ज्ञान को प्राप्त किया था। वस्तुत: उन्होंने उसकी अनुभूति की और उन्हें जो कुछ अनुभूति हुई उसी का उन्होंने प्रचार किया। यही शिक्षा कालान्तर में बौद्ध धर्म कहलायी। ईसा मसीह ने कभी ईसाई धर्म का उपयोग नहीं किया। किन्तु बुद्ध के अनुयायियों को बौद्ध धर्म पर निर्भर रहना पड़ा और ईसा के अनुयायियों को ईसाई धर्म की आवश्यकता पड़ी। यही बात और धर्मों के बारे में भी सत्य है।"

"हम नहीं जानते वेदों के रचयिता कौन थे और न ही हमें इन सबको जानने की आवश्यकता है। उनमें निहित विचार ही आध्यात्मिक उत्थान के लिए महत्वपूर्ण हैं। किन्तु, साधारण व्यक्ति जो इनके अर्थ को समझ पाने में असमर्थ है उसे अन्य धार्मिक ग्रन्थों की जरूरत पड़ती है। ये इस बात की व्याख्या करते हैं कि किस प्रकार उन आध्यात्मिक सत्यों को दैनिक जीवन में लागू किया जा सकता है।"

"साथ ही, आध्यात्मिक सत्य की व्याख्या करने वाले दूरदृष्टा भी चाहिए जो यह बता सकें कि धर्म का कुँआ कभी खाली नहीं रहता।"

"स्वामी दयानन्द सरस्वती ने वेदों को अपनी शिक्षा का आधार माना। इतने पर भी उन्होंने वेदों के उन अंशों को नकार दिया जिन्हें वे अनावश्यक रूप से बाद में जोड़ा गया समझते थे।"

"ऐसा करने का अधिकार केवल उन्हीं आचार्यों को है जो यह समझते हैं कि वे क्या और क्यों नकार रहे हैं।"

"दो देशों के बीच की लड़ाई तब समाप्त होती है जब उनमें से एक देश हार जाता है। किन्तु धार्मिक लड़ाइयों और साम्प्रदायिक झगड़ों का कभी अन्त नहीं होता क्योंकि इनसे किसी समुदाय का उन्मूलन नहीं किया जा सकता। चूंकि झगड़ा समाप्त होने पर उन्हें एक साथ रहना है और जीवन में हर स्तर पर मिलकर चलना है किन्तु ऐसे वैमनस्यों से सारे देश का वातावरण विषाक्त हो जाता है।"

"यदि धार्मिक विवादों को खत्म करना है तो हर व्यक्ति को दूसरे व्यक्ति के धर्म को सीखना होगा और उसे खुले दिमाग से समझना होगा।"

"आप कहते हैं कि ऐसा लगता है कि दलित वर्ग को दूसरे धर्मों में एक मुश्त परिवर्तित करने का यह एक सशक्त आन्दोलन हो सकता है।"

"धर्म के दो पक्ष हैं—आन्तरिक और बाह्य। वे किसको परिवर्तित करना चाहते हैं? यदि वे बाह्य पक्षों में परिवर्तन चाहते हैं तो यह समाज सुधार ही है,

जो वे चाहते हैं । जहां तक आन्तरिक परिवर्तन का प्रश्न है वह तो सभी मनुष्यों में निरन्तर होता रहता है। यह परिवर्तन व्यक्ति के मानसिक विकास के अनुसार होता है । यह तो एक स्वाभाविक प्रक्रिया है जिसे आपके लिए कोई दूसरा नहीं कर सकता । संन्यासी तो केवल मार्ग-दर्शन ही कर सकते हैं । यात्रा तो आप को ही करनी होगी ।

"हिन्दू, ईसाई या किसी भी अन्य धर्म के व्यक्ति को जैसे ही अपने धर्म से विश्वास उठ जाए उसे अपना धर्म छोड़ देना चाहिए। एक बार धर्म से विश्वास उठ जाने पर आपका उसमें बने रहना कायरता और कपटता है। ऐसे व्यक्ति का उस धर्म में बने रहना न तो धर्म के लिए और न ही व्यक्ति के लिए अच्छा है ।"

"इस के विपरीत जो व्यक्ति भौतिक लाभ के लिए जिस (नये) धर्म को अपनाते हैं वे उस धर्म को कलुषित ही करते हैं । किसी भी धर्म के लिए अविश्वासी लोगों द्वारा संख्या बढ़ाना अच्छा नहीं होता।" (भगवान का साम्राज्य तो आपके ही भीतर है । किसी विशेष धर्म को अपनाना उस सत्य को समझने के लिए होना चाहिए न कि भौतिक सम्पत्ति को पाने के लिए ।)

"वह बुद्धिजीवी वर्ग जो यह तर्क देता है कि हिन्दुओं का दूसरे धर्म को ग्रहण करना एक प्रकार से स्वार्थ वृद्धि और भ्रष्टाचार है जिसने हिन्दू धर्म को दूषित किया हुआ है—इस प्रकार के तर्क से वे वास्तव में हिन्दु धर्म में सुधार लाने की बात करते हैं । वस्तुत: यही उनका प्रयास होना चाहिए । इन विचारकों को न तो मैदान छोड़कर भाग जाना चाहिए और न ही जन सामान्य को नेतृत्व के बिना छोड़ना चाहिए ।"

इसलिए, कोई ऐसा धर्म नहीं जिसे हम हिन्दू धर्म कह सकें । विदेशियों ने हिन्दुस्तान के लोगों को हिन्दू कहा है। अत: यदि हिन्दू धर्म हिन्दुओं के धर्म का द्योतक है तो जो हजारों लोग ईसाई एवं मुस्लिम धर्म अपनाये हुए हैं, उन्हें भी हिन्दू ही कहना चाहिए । किन्तु, ऐसा कोई भी नहीं कहता और न ही कोई ऐसी परिभाषा को स्वीकार करेगा । आज हिन्दू धर्म से अभिप्राय उन विभिन्न विश्वासों के संगम से है जो कई प्रकार के मूल्यों को अपने भीतर समेटे हुए है। वास्तव में ये मूल्य विभिन्न वर्गों और धर्मावलम्बियों के रीति-रिवाजों, जीवन पद्धतियों, आचार-विचारों और दर्शन में निहित होते हैं। वेद, मीमांसा, द्वैत, अद्वैत, विशिष्टाद्वैत, शैव, शाक्त, वैष्णव—ये सब हिन्दू धर्म के विभिन्न रूप हैं । (इनमें विभिन्न आदिम विश्वास भी सम्मिलित हैं जो अपने-अपने स्थान और अपनी अपनी जाति में अलग-अलग हैं।) ये आध्यात्मिक विकास के विभिन्न स्तरों पर मिलते हैं । यदि विश्वासों की इस समग्रता को एक धर्म हिन्दू कहा जा सकता है तो इस्लाम, ईसाई, बौद्ध, जैन आदि सभी धर्मों को भी सामूहिक रूप

से एक धर्म कहा जा सकता है ।

यदि किसी धर्म का प्रचार उसके संस्थापक ने किया और कालान्तर में उसके अनुयायियों ने उसकी व्याख्या विभिन्न रूपों में की तो उसे एक धर्म कहा जा सकता है । साथ ही इसके संस्थापक का नाम भी दिया जा सकता है । इसी सिद्धान्त का विस्तार करते हुए विभिन्न आचार्यों द्वारा उसके विभिन्न मतवादों-सिद्धान्तों को भी एक धर्म का नाम दिया जा सकता है । लोगों को अनेकता में एकता का मूल उसी रूप में देखना चाहिए जैसा वह अलग-अलग धर्मों में पाया जाता है । (इसके पश्चात्) सी० बी० कुनहुरयन के पास कुछ और पूछने को नहीं रहा ।

धर्म-सम्मेलन

इससे पहले श्रीनारायण गुरू ने एक धर्म सम्मेलन बुलाया जिसमें हिन्दू, ईसाई, मुस्लिम, बौद्ध और पारसी धर्म के विचारक एवं नेताओं ने धर्म सम्बन्धी विभिन्न विषयों पर विचार प्रस्तुत किए। इन विचारों का स्वभाव स्वामी जी ने "**स्वयं जानो और दूसरों को ज्ञान दो तर्क से नहीं और न ही दूसरों को परास्त करके**" नामक पुस्तिका में दिया है । इस सिद्धान्त वाक्य को सभा मंडप के मुख्य द्वार और विभिन्न स्थलों पर बड़े-बड़े अक्षरों में लिखा गया था । (इतना ही नहीं इसे सभा मंच पर भी लिखा गया था जो वक्ताओं के विचारों की पृष्ठभूमि के रूप में कार्य कर रहा था ।

गुरू द्वारा स्वीकृत एवं उनकी ओर से पढ़े गए उद्घाटन भाषण में धर्मों की एकता के मूल सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया था । इसमें यह बताया गया था कि विभिन्न धर्मों के बाह्य भेदों के होते हुए भी आन्तरिक एकता मिलती है । सभी वक्ता अपने-अपने धर्मों के निष्ठावान अनुयायी थे । वे अपने ही नहीं दूसरे धर्म-ग्रन्थों के भी ज्ञाता थे धार्मिक शिक्षा के मर्मज्ञ व्याख्याता थे । भारत में यह पहला धर्म सम्मेलन था । इसका आयोजन आलवै के अद्वैत आश्रम में 1924 की शिवरात्रि को हुआ था ।

भक्तों का जो अपार जन-समूह आलवै में इस दिन इकट्ठा होता था उस पर एक चित्ताकर्षक प्रभाव होता था । यह प्रभाव सामान्यतः उन भारतीय समूहों पर मिलता है जो ऐसे धर्म उत्सवों पर इकट्ठे होते हैं । वे रास्ते में पड़ने वाले हर मन्दिर पर, भले ही वह गुरूवायुर का श्रीकृष्ण मंदिर था कोट्टुगलूर का भगवती मंदिर, रुके और उसमें पूजा की । वहाँ के भूगोल का अध्ययन करने पर ही इस बात का पता चलता है कि उन्होंने किस/किन मठ/मठों में पूजा की । साधारण धर्म भीरू व्यक्ति बिना किसी दार्शनिक ऊहापूह के सहज रूप से यह

विश्वास करते रहे हैं कि सभी देवता एक ही तत्त्व का ज्ञान कराते हैं। वे बच्चों की भाँति थे। जिन्हें जैसा चाहिए मोड़ लीजिए। उस अपार जन-समुदाय ने शिक्षित बुद्धिजीवियों को ईसा के वे शब्द याद दिलाये जहाँ उन्होंने कहा है—"अपने आपको (ईसाई) धर्म में परिवर्तन मान लो और एक शिशु की भाँति बन जाओ, अन्यथा तुम्हें ईश्वर की प्राप्ति नहीं होगी।" शिवरात्रि के दिन आलवै में जो जन-समुदाय इकट्ठा हुआ था उसमें विश्वास ने ज्ञान का मार्ग-दर्शन किया और निकट ही अद्वैत आश्रम में चल रहे सम्मेलन में ज्ञान सहज विश्वास का समर्थन कर रहा था।

उन पढ़े-लिखे लोगों ने जिन्होंने मन्दिरों, तीर्थस्थानों अथवा उत्सवों पर पुराणों की कथाएं सुनी थीं उन्होंने भी दंतकथाओं, स्तुति पाठों और प्रार्थना एवं भजनों से यह जान लिया था कि प्रत्येक देवी-देवता वही परम भगवान अथवा भगवती माँ ही है। इस प्रकार उन्हें अपने बालसुलभ व्यवहार में दूसरे धर्मों के संतों की पूजा में कुछ भी विचित्रता दिखायी नहीं दी। समूचे केरल में यह आम बात है कि हिन्दू कुछ ईसाई गिरजाघरों में और मुस्लिम मस्जिदों में भेंट चढ़ाते हैं और ईसाई तथा मुस्लिम हिन्दू मन्दिरों में पूजा करने जाते हैं। गुरू ने उनके इन आदिम विश्वासों का उत्थान करके इसे धर्म की एकरूपता का आवश्यक अंग बनाया। इसके साथ ही इसके अर्थ को सूक्ष्मता प्रदान की। इतना ही नहीं उन्होंने इसे तर्क-आधारित विश्वास बना दिया। जिनको पहले विश्वास से बोध होता था उन्हें अब ज्ञान से बोध होने लगा। उन्हें जैसे श्रवण के लिए कान और ज्ञान के लिए चक्षु मिल गये थे।

तब से सर्व धर्म-सम्मेलन जैसे आलवै की वार्षिक विशिष्टता हो गई है। इतना ही नहीं श्री नारायण गुरू के सम्मान में कभी और कहीं भी आयोजित कोई भी कार्यक्रम धर्म-सम्मेलन के बिना अधूरा होता है। इन अवसरों पर बोलने वाले विशिष्ट वक्ता विभिन्न धर्मों के अनुयायी होते हैं। इनमें अलग-अलग स्तर के ईसाई पादरी होते हैं। इनमें वे मुस्लिम विद्वान भी सम्मिलित होते हैं जिन्होंने श्री नारायण गुरू के दर्शन की व्याख्या कर हिन्दुओं को आश्चर्यचकित किया था। ये सम्मेलन अधिकतर श्री नारायण गुरू मंदिरों के प्रांगण में ही आयोजित किये जाते हैं। हिन्दू, बौद्ध, ईसाई एवं मुस्लिम श्री नारायण गुरू के प्रति श्रद्धाभाव के कारण हिन्दू मन्दिरों में मिलते हैं। यह बहुत ही प्रेरक एवं भावोत्तेजक दृश्य होता है। जब गुरू का सम्मान किया जाता है तो मंच पर दोनों को आस्तिक और नास्तिकों को—साथ-साथ बैठा देखा जा सकता है।

जो अद्वैत दर्शन मनीषियों और बुद्धि-जीवियों तक सीमित था गुरू ने उसे जनमानस के लिए प्राप्य बना दिया।

पंचमेल मंच

यदि हम प्रथम सम्मेलन के विभिन्न प्रबंधकों एवं उनके बौद्धिक स्तर पर विचार करें तो हमें बहुत मजेदार बातों का ज्ञान होगा। स्वामी जी का अद्मय विनोद न केवल उनकी बातों से बल्कि उनके कार्यों से भी व्यक्त होता है।

जैसा कि पहले लिखा जा चुका है कि इनमें एक सी० बी० कुनहुरमन थे जो तब तक किसी बात पर विश्वास नहीं करते थे जब तक कि वे तर्क द्वारा कायल नहीं हो जाते थे। इसी प्रकार दूसरे थे अय्यप्यन जो सहोदर्न अय्यप्पन के नाम से प्रसिद्ध थे। इन्होंने सहोदर्न संगम की स्थापना की। वे नास्तिकवादी थे और उन्होंने समाज-सुधार के क्षेत्र में क्रान्ति ला दी थी। वास्तव में वे केरल के महान् समाज-सुधारक थे। ये स्वामी जी के परम भक्त भी थे। इन्होंने ही गुरू के आदेश पर उस मूल सूत्र का प्रतिपादन किया था जिसका उल्लेख इस अध्याय में पहले किया जा चुका है। इसी प्रकार एक और प्रबंधक थे टी० के० माधवन। ये हिन्दू थे और इन्होंने अछूतों को अधिकार दिलाने के लिए 1924 में सत्याग्रह का आयोजन किया ताकि वे लोग वैकोम मन्दिर के आसपास आ जा सकें। वे पद-दलितों की की ओर से उनके अधिकारों के लिए लड़ने वाले अथक योद्धा थे। यह उनका अकलान्त व्यक्तित्व ही था जिसके कारण महात्मा गाँधी को उनके इस महान् कार्य के लिए आशीर्वाद देने हेतु स्वयं केरल और वैकोम तक आना पड़ा। स्वामी सत्यव्रतन जिन्हे गुरू ने संन्यास में दीक्षा दी अनुष्ठानों के आचार्य थे। धर्म सम्मेलन में कार्य करने वाले गुरू के जो शिष्य थे उनके व्यक्तित्व में हिन्दू संन्यासी, तर्कवादी, नास्तिकवादी और भक्त के गुणों का पंचमेल मिलाप था।/

वस्तुतः उनके महान् अनुयायियों में विश्वास की पूर्ण शक्ति थी। टी० के० माधवन हिन्दू थे। सी० वी० कुनहुरमन तर्कवादी पर श्रद्धालु थे। अय्यप्पन नास्तिक थे तो सी० कृष्णन् बौद्ध। कुमार आश्न श्री नारायण गुरू के विवेकानन्द थे। डा० पालपू महानतम समाज-सुधारक थे और मुर्कोट कुमारन के लिए तो गुरू की वाणी सुसमाचार थी। इन्होंने अनेक पत्रिकाओं का सम्पादन किया जिनमें वे एक दूसरे से तर्क करते थे। उनमें शाब्दिक लड़ाई तो होती थी लेकिन किसी प्रकार का आपस में वैमनस्य नहीं था। गुरू के सामने वे बच्चे थे। जिन लोगों ने उन्हें शेर की तरह लड़ते देखा था वे यह देखकर हैरान हो जाते थे कि वे कैसे गुरू के सामने भीगी बिल्ली बन जाते हैं। किस सहज भाव से वे एक-दूसरे का अभिवादन करते हैं, एक दूसरे की पीठ थपथपाते हैं आदि को देखना वहाँ एकत्रित जन-समूह को प्रभावित करता था। पिछले पचास वर्षों पर दृष्टि डालने से ऐसा प्रतीत होता है कि गुरू इनके वाक्युद्ध को वैसा ही मानते थे जैसे एक ही माँ के मासूम बच्चे एक-दूसरे को पछाड़ते हैं। उन्होंने कभी उनके विचारों का उपशमन

करने का प्रयत्न नहीं किया। उन्होंने सारथी की भाँति आध्यात्मिकता के सीधे एवं सकरे पथ पर चार दिशाओं में जाने वाले रथ को चलाया। गुरू की एक-एक बात को समझने के लिए न जाने हम लोगों को कितना समय और कितने जीवन लगे हैं।

उदाहरण के लिए देखने पर हमें ज्ञात होता है कि गुरू ने कभी भी धार्मिक सहिष्णुता का उपदेश नहीं दिया। अब इसका कारण भी स्पष्ट है कि सहिष्णुता कोई बहुत अच्छा शब्द नहीं है। हम जिन विचारों एवं प्रथाओं को स्वीकार नहीं करते उन्हें सहन कर जाते हैं।

जब सहोदर्न अय्यप्पन गुरू के पास इस बात पर सलाह लेने के लिए आये कि सी० वी० कुमारन आदि इस बात की प्रतीक्षा में हैं कि ऐजावाओं को एकमुश्त ईसाई का बौद्ध धर्म में परिवर्तित किया जाए तो गुरू ने हमेशा की तरह सूत्र वाक्य के रूप में रहस्यमय किन्तु खण्डनात्मक रूप में कहा—

"मैं जानता हूँ कि बौद्ध धर्म में भी भ्रष्टाचार है। क्या ईसाई धर्म, पवित्र धर्म नहीं है? क्या सभी ईसाई अच्छे नहीं होते हैं?"

ऐजावा एवं अन्य दलित वर्गों के एक मुश्त धर्म परिवर्तन के तर्क को समूल नष्ट करने के लिए ये तीन प्रश्न वास्तव में उत्तर थे।

इस संदर्भ में चर्चा के दौरान गुरू जी ने यूं ही जो एक बात कही थी वह आगे चलकर उनका एक महानतम संदेश बन गई। उनका कथन था—

"जो भी धर्म हो, यही पर्याप्त है कि मनुष्य सद्‌गुण सम्पन्न हो।"

अध्याय 11

मानव की एक जाति

श्री नारायण गुरू ने धर्म के बारे में जनता का मार्गदर्शन किया और उन्होंने उनको यह भी बताया कि ज्ञान-ध्यान का जीवन बिताने की अपेक्षा सक्रिय जीवन बितायें। वे उन्हें समझाना चाहते थे कि धर्म का अर्थ अनुष्ठान और कर्मकाण्ड नहीं है अपितु वह एक जीवन-पद्धति है। वास्तव में यह पूर्ण रूप से जीवन में व्यक्ति होता है और यहाँ पवित्रता और अपवित्रता का अन्तर समाप्त हो जाता है।

अद्वैत दर्शन आत्म-शक्ति पर आधारित है जिससे जीवन में हमारे नैतिक मूल्यों की मूल शक्ति के निर्माण की अपेक्षा की जाती है। बिना इस भव्य प्रेरणा के हमारी नैतिकता भौतिक सुख के अतिरिक्त और कुछ न होगी और बरनार्ड शॉ के शब्दों में—"ईमानदारी जहाँ नीति मात्र होगी।"

इसके विपरीत अद्वैत सिद्धान्त यदि सबको समभाव से देखना नहीं सिखाता तो वह निरर्थक है। केरल में ऐसे आचरण की सबसे बड़ी बाधा, घोर जाति-प्रथा थी। अतः गुरू का विश्व-प्रेम का संदेश केरल की जनभाषा में ही व्यक्त किया गया। उनका संदेश था—"मानव की एक जाति।"

उन्होंने कभी यह आदेश नहीं दिया कि गृहस्थ को सब कुछ छोड़कर उस एक ईश्वर के साथ अलौकिक तादात्म्य स्थापित करना चाहिए और न ही उन्हे वेदान्त ज्ञान की चिन्ता करनी चाहिए। उन्हें तो मात्र अपने संगी-साथियों से प्रेम करना है। इतने मात्र से ही जैसे दिन, रात का अनुसरण करता है वैसे ही उनका प्रेम विश्व-प्रेम से बढ़ता हुआ भगवत् प्रेम तक चला जाएगा।

इस संदर्भ में ईसा मसीह की वह प्रसिद्ध उक्ति बार-बार दिमाग में आती है जिसमें दो ईश्वरीय आज्ञाएँ हैं :

> पहली आज्ञा है—हमारा प्रभु, ईश्वर एकमात्र प्रभु है।
> अपने प्रभु ईश्वर को अपने पूरे मन,

अपनी सारी आत्मा, अपनी सारी बुद्धि
और सारी शक्ति से प्यार करो ।"
और दूसरी आज्ञा थी—
"अपने पड़ोसी को अपने ही समान प्यार करो
इनसे बड़ी कोई आज्ञा नहीं ।"

सन्त मारकुस 12/29-30.

उच्च जाति वालों ने निम्न जाति वालों पर जो अत्याचार किए हैं उनका उल्लेख पहले किया जा चुका है । सच्चाई यह है कि कोई भी जाति, यहाँ तक कि नम्बूदरी ब्राह्मण भी, केरल में प्रचलित अंधविश्वासों एवं प्रथाओं की वेदना और कलंक से मुक्त नहीं थे । नम्बूदरियों का सबसे बड़ा लड़का ही अपनी जाति में विवाह कर सकता था । इस प्रकार अनेकों नम्बूदरी कन्याओं को आजीवन अविवाहित रहना पड़ता था या फिर उन्हें किसी नम्बूदरी की अनेक पत्नियों में से एक होकर रहना पड़ता था । कभी-कभी तो उसका पति उसके पिता की आयु का होता था । इन नम्बूदरी कन्याओं की व्यथा को समझने के लिए इतिहास के शुष्क पृष्ठों को पढ़ने की अपेक्षा महान् नम्बूदरी लेखिकाओं के उपन्यास ही बहुत अच्छे स्रोत हैं । नम्बूदरियों के अन्य छोटे लड़के केवल अपने से निम्न जाति की नायर स्त्रियों के साथ वैवाहिक सम्बन्ध कर सकते थे । लेकिन, उनके बच्चे न केवल पैतृक सम्पत्ति से वंचित होते थे बल्कि उन्हें अपने पिता को छूने तक की भी मनाही थी ताकि, उनका पिता (उन बच्चों के स्पर्श) से दूषित न हो जाए । श्री नारायण गुरू ने कभी अपने से उच्च जाति के प्रति आवाज नहीं उठायी क्योंकि वे जानते थे कि इसका मूल कारण कोई व्यक्ति या जाति नहीं बल्कि अन्ध-विश्वास है ।

इन हास्यास्पद परिस्थितियों के पीछे यदि यह दुःखद भाव न होता तो लोगों को यह सम्पूर्ण सामाजिक वातावरण मजाक का विषय लगता । उदाहरण के लिए तेली अपने आप में एक जाति थी किन्तु उनमें भी तेल निकालने वालों की अपनी अलग जाति थी जो तेल व्यापारियों से नीची मानी जाती थी । इतना ही नहीं एक ही जाति के लोग यदि नदी के दूसरी ओर रहते थे तो वे भी एक-दूसरे से विवाह नहीं करते थे। कभी-कभी तो सड़क के दूसरी पार रहने के कारण भी यह विवाह सम्भव नहीं था । हाँ, जाति में विवाह तो सम्भव था किन्तु पत्नी को अपने घर की रसोई में घुसने की भी मनाही थी । वस्तुतः उन दिनों का केरल अंध-विश्वासों का "विस्मय लोक" था ।

सबसे दुःखद बात जाति-प्रथा थी जिसमें हर व्यक्ति दूसरे को हेय समझता था । यहाँ तक कि निम्नतम जाति का व्यक्ति भी किसी न किसी को अपने से

नीचे समझता था। इस हेयता की वरीयता क्रम से ऐजावा भी अछूते नहीं थे। जहाँ एक ओर वे अपने से उच्च जाति वालों के मन्दिरों में प्रवेश पाने के इच्छुक थे वहाँ दूसरी ओर गुरू ने इनके लिए जिन मन्दिरों की स्थापना की थी उनमें से कुछ मन्दिरों में वे अपने से निम्न जाति के लोगों को नहीं जाने देते थे। और भी अनेक तरीकों से उन्होंने दूसरों पर अपनी अन्धविश्वासी वरीयता को बनाये रखा।

स्वामी ने बरकल और आलवै की संस्थाओं आदि में निम्न वर्गों को प्रवेश दिया। अनेक ऐजावा नेताओं ने इसका अनुसरण करते हुए अपने घर में नौकर और रसोइये के रूप में अपने से निम्न जाति के लड़कों को रखा। इस प्रथा का अर्थ इस बात से ठीक तरह से समझा जा सकता है कि तत्कालीन भारत में नौकर शीघ्र ही घर का सदस्य बन जाता था। हममें से वे भारतीय जो चालीस वर्ष से ऊपर के हैं, उन्हें अब भी याद होगा कि घर का नौकर किस प्रकार हमें मामा की तरह हमारी गलतियों के लिए दंड देता था। इस प्रकार जब निम्न जाति के लोग घर की परिधि में सम्मिलित होने लगे तो जातियाँ एक-दूसरे के निकट आयीं।

ऐजावा जो संख्या में लाखों थे थिय्यास, चौवान, थानदान आदि उपजातियों में बटे हुए थे और ये अन्तर्जातीय विवाह नहीं करते थे। स्वामी जी के आगमन से समूचे केरल में ये सब उपजातियाँ एक समुदाय में ढल गयीं। ऐजवाओं के मन्दिर, शिक्षा संस्थाएँ, छात्रावास आदि सभी जातियों के लिए खोल दिए गये। एक व्यंग्यकार ने तो यहाँ तक कह दिया कि "अब ब्राह्मणों तक को भी मन्दिर में जाने की छूट दी गई।"

ऐजावाओं की बहुत सी उपजातियाँ अब तक अलग-अलग और छोटे छोटे वर्गों में रह रही थीं। उन सबको मिलाकर जब एक बड़ा समुदाय बना दिया गया तो नायर एवं अन्य जातियों ने भी अपने उत्थान के लिए ऐसा ही किया। साथ ही, श्री नारायण गुरू की इन गतिविधियों से इतना प्रभाव पड़ा कि केरल की सभी जातियों की आँखें खुल गईं और उन्होंने अपने अपने रीति-रिवाजों में सुधार लाने के लिए काम किया। अब तक अर्थात् बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भिक दशकों में आर्यसमाज, ब्रह्म समाज, रामाकृष्ण मिशन एवं भारत समाज सेवक आदि के समाज-सुधार आन्दोलन और गतिविधियों का केरल समाज पर काफी प्रभाव पड़ा और इस प्रकार समाज सुधार आन्दोलन आधुनिक विचारधारा को लेकर आगे बढ़े।

केरल के नम्बूदरी जो पहले सबसे अधिक रूढ़िवादी ब्राह्मण माने जाते थे वे अब भारत के आमूल परिवर्तन के पक्षधरों में सबसे आगे थे। विधवा-विवाह के

सम्बन्ध में क्रान्तिकारी परिवर्तन उनका सबसे चमत्कारी परिवर्तन था। नायरों ने भारत के समाज सेवक संघ की पद्धति पर आधारित एक समाज की स्थापना की और सामाजिक जीवन में बहुत महत्वपूर्ण परिवर्तन किये। पुलियास अपने अधिकारों के प्रति जागरूक हो उठे। यह बहुत सुखद बात है कि उन दिनों केरल में ये जो गतिविधियाँ चल रही थीं उनसे किसी भी जाति में कोई हिंसक भावना पैदा नहीं हुई।

श्री नारायण गुरू ने अपनी विनीत पद्धति से रूढ़िवादिता को जड़ से उखाड़ने का जो बीज बोया था उससे पचास वर्ष की छोटी अवधि में ही अच्छे परिणाम निकले। अछूतोद्धार के बारे में केरल में जितनी अभूतपूर्व प्रगति हुई उतनी भारत के किसी अन्य राज्य में नहीं हुई।

यह महान् उपलब्धि खून की एक भी बूंद बहाये बिना प्राप्त हुई। शुरू में दमन के विरुद्ध निम्न जाति के लोगों और निहित स्वार्थों के बीच जो संघर्ष हुए थे उनमें हिंसात्मक झगड़े भी हुए थे। लेकिन, श्री नारायण गुरू के नेतृत्व में सामाजिक क्षेत्र में उनके उत्थान के लिए आत्म-निर्भरता का जो आन्दोलन चला उसमें बहुत ही सभ्य ढंग से बाधाएँ उत्पन्न की गईं। इसके विपरीत उन दिनों की ऐसी बहुत सी घटनाएँ प्रसिद्ध हैं जिनमें उच्च जाति के लोग सहायता के लिए आगे आये और अछूतों के अधिकारों के लिए आन्दोलनों का नेतृत्व किया। वैकोम के इस सत्याग्रह से, जिसका उल्लेख पुस्तक में बाद में किया गया है, इस सहयोग की पराकाष्ठा दिखाई देती है।

अध्याय 12

श्री नारायण धर्म परिपालन योगम्

1903 में गुरू की छत्रछाया में श्री नारायण धर्म परिचालन योगम् नामक सभा, जो एस० एन० डी० पी० के नाम प्रसिद्ध है, की स्थापना हुई। इसका उद्देश्य श्री नारायण के विचारों का आम जनता में प्रचार तथा केरल के दलित वर्ग का उत्थान था। किसी भी जाति का कोई भी व्यक्ति इसका सदस्य हो सकता था। इस सभा में ऐजावा जाति के लोगों की सदस्य संख्या बहुत अधिक थी इसलिए इसकी बागडोर स्वभावत: इन्हीं लोगों के हाथ में आ गई। स्वामी जी का जीवन-दर्शन जो सार्वभौमिकता का एक पक्ष था वह इसी समाज तक सीमित नहीं था। इसका कारण यह था कि उनके नेतृत्व में कार्य करने वाला प्रत्येक व्यक्ति दलित वर्ग के उत्थान में जी जान से लगा हुआ था। वे इसलिए भी गुरू के सहज अनुयायी थे क्योंकि गुरू का जन्म उन्हीं के बीच हुआ था। इस प्रेरणा के लिए इतना ही पर्याप्त था।

सदस्यों की इसी एकरूपता से सभा का संचालन सुचारू रूप से हो रहा था। सदस्य संख्या में ऐजावाओं की संख्या सर्वाधिक थी इसी से आन्दोलन को बहुत बल भी मिला। अछूतों से सबसे ऊंची जाति और नायरों के एकदम बाद होने के कारण सभा में उनका महत्वपूर्ण स्थान था। उनकी उपलब्धियों में एक ओर अपने से निम्न वर्ग वालों में सुधार की प्रतिस्पर्धा की भावना पैदा करना था और दूसरी ओर अपने से उच्च वर्ग वालों को अपने रीति-रिवाजों का मूल्यांकन करने और उनमें संशोधन की प्रेरणा देना था। ऐजावाओं की वैद्य संस्कृत विद्वानों, भूपतियों एवं धनाढ्यों की परम्परा ने उन्हें सामाजिक उत्थान में शीर्षस्थ स्थान दिलाने में सहायता प्रदान की। उनका नेता क्योंकि एक महान् संत था। अत: सम्पूर्ण आन्दोलन आध्यात्मिकता की गन्ध से अनुप्राणित था। जीवन में अपना स्तर ऊपर उठाने के लिए इससे पहले भी वे आन्दोलन कर चुके थे और उसमें उन्हें

कुछ सफलता भी मिली थी पर, उनमें छुटपुट रूप से कुछ हिंसात्मक घटनाएँ भी हुई थीं। संघर्ष के इस अवसर का उन्होंने सम्मान और संयम से स्वागत किया।

श्री नारायण धर्म का परिपालन का अब विशाल स्तर पर वार्षिक सम्मेलन होता था। प्रारम्भिक दिनों में गुरू की उपस्थिति इन सम्मेलनों की शोभा थी। वे इन सम्मेलनों का मार्गदर्शन और उनके मूल विषयों का निर्धारण करते थे। इन सम्मेलनों में सुनने वालों की संख्या पहले सैकड़ों में होती थी तो बाद में धीरे-धीरे लोग हजारों की संख्या में इकट्ठे होने लगे। कुछ विशेष सभाओं में तो यह संख्या पचास हजार से भी अधिक हो जाती थी। इतनी बड़ी संख्या होने पर भी लोग बिना किसी लाउड स्पीकर के नितान्त शांत भाव से उन्हें सुनते थे। इन सभाओं वक्ता प्रायः उच्च जाति के लोग जिनमे बड़े-बड़े पदाधिकारी और यहाँ तक कि ट्रावनकोर कोचिन के दीवान भी होते थे।

दलित वर्गों को सार्वजनिक सड़कों पर चलने के आयोग्य माना जाता था जिससे वे किसी उच्च वर्ग के व्यक्ति को दूषित न कर सकें। अयोग्यता की यह भावना पतझड़ के पत्तों की भाँति एक-एक करके झरने लगी। वे अब सार्वजनिक सड़कों पर चल-फिर सकते थे, मन्दिर की ओर जाने वाली सड़कों का प्रयोग कर सकते थे। स्कूलों, कालिजों और छात्रावासों में प्रवेश पा सकते थे, सरकारी दफ्तरों, में नौकरी पा सकते थे। इतना ही नहीं कुछ विशिष्ट जातियों के लिए तो कुछ प्रतिशत नौकरियों का आरक्षण भी करवा लिया गया और अन्ततः 1936 में उन्हें मन्दिरों में प्रवेश मिल गया। भारत में ट्रावनकोर पहला राज्य था जिसने सभी जातिवालों को ऐसा अवसर दिया था। गुरू, जिनके लिए यह कहा जाता है कि उन्होंने 1928 में समाधि ग्रहण कर ली थी, की यह कितनी अद्‌भुत उपलब्धि थी। यह सोचना ही कि अछूतों ने तीस वर्ष की अल्पावधि में यह सब कुछ प्राप्त कर लिया और किसी प्रकार की कोई दुर्भावना भी पैदा नहीं हुई, अपने आप में अद्‌भुत था।

प्रारंभिक सचिव

योगम् का प्रत्येक सचिव अपने आप में एक महान् व्यक्तित्व था। डा० पालपू इसके प्रथम सचिव थे। उनके जेष्ठ पुत्र, नटराजन, श्री नारायण गुरू के शिष्य हो गये और उन्होंने गुरू के आध्यात्मिक संदेश अथवा "गुरूवाणी" को दुनियाँ के कोने-कोने में अर्थात् आस्ट्रेलिया से केनेडा तक फैलाया। इसके साथ ही साथ उन्होंने उपनिषद्‌कालीन परंपरा के अनुसार गुरुकुलों की भी स्थापना की। स्वर्गवासी नटराजगुरू बुद्धिजीवियों एवं आत्मसमर्पित शिष्यों को छोड़ गये हैं जो अब भी उनके कार्य को आगे बढ़ा रहे हैं।

डा० पालपू ने अपने दूसरे बेटे को इस शताब्दी के तीसरे दशक में चीनी मिट्टी के बर्तनों को बनाने के प्रशिक्षण एवं जापानी पद्धति पर कुटीर उद्योग की स्थापना के लिए जापान भेजा। डा० पालपू ने स्वयं ऐसे बहुत से उद्योग-धन्धे चलाए। इन्होंने 1910 में बेसिक शिक्षा का भी श्रीगणेश किया। इसके साथ ही उन्हें अनेकों सामाजिक, शिक्षा सम्बन्धी एवं सांस्कृतिक सुधारों का भी श्रेय है।

डा० पालपू के बाद महाकवि कुमारन आश्न ने श्री नारायण धर्म परिपालना की अनेक सांस्कृतिक गतिविधियों को और अधिक शक्ति प्रदान की। वे केरल के आधुनिक तीन महान् कवियों में से एक थे और इन्होंने गद्य में अनेक नवीन विधाओं का सूत्रपात किया। उनकी काव्यवस्तु में बौद्ध दर्शन, उपनिषद् और पाश्चात्य विचारधारा का संगम है। ये सभी सामाजिक सुधार की भावना से उद्भूत हुए थे।

वैकोम सत्याग्रह

टी० के० माधवन इसके तीसरे सचिव थे जिन्होंने अथक परिश्रम से चार मास के भीतर योगम् की संख्या को 46,000 से 50,000 तक कर दिया। सम्पूर्ण आन्दोलन को एक सुचालित मशीन की भाँति चलाया जिसमें सभी—स्त्री, पुरूष, बच्चे कार्य मे जुट गये। उन्होंने उच्च वर्ग के लोगों के मन्दिरों को जाने वाली सड़कों पर निम्न वर्ग के लोगों के जाने की आजादी दिलाने के लिए वैकोम सत्याग्रह आन्दोलन चलाया। उन्होंने इस इस आन्दोलन का मार्ग-दर्शन करने और आशीर्वाद लेने के लिए महात्मा गाँधी को दक्षिण में आमन्त्रित किया। महात्मा गाँधी जिस बात का स्वप्न ले रहे थे उसको यहाँ एक व्यक्ति साकार रूप दे रहा था। गाँधी जी गुरू से मिले और उनके हृदय में गुरू के लिए अत्यधिक सम्मान पैदा हुआ। गाँधी जी ने स्वामी को सदा पवित्र आत्मा श्री नारायण गुरू के रूप में सम्बोधित किया। गुरू का प्रभाव महात्मा जी पर इतना अधिक पड़ा कि उन्होंने हरिजन उत्थान के लिए और अधिक कार्य करने का निश्चय किया।

स्वामी की प्रेरणादायक आध्यात्मिकता और टी० के० माधवन के अदम्य उत्साह से उच्चजाति के उदार लोग इतनी शीघ्रता से प्रभावित हुए कि जिसकी भारत के समाज-सुधार आन्दोलन में कोई मिसाल नहीं।

वैकोम सत्याग्रह के समय उच्चकुलीन उदार दृष्टि वाले नेताओं ने माधवन का समर्थन किया। जो ब्राह्मण, नीलकन्थन और नम्बूदरीपाद अग्रणी समाज-सुधारक और निर्भीक स्वतंत्रता सेनानी थे उन्होंने इनके साथ हाथ से साथ मिला कर काम किया। माधवन के अन्य निकट सहयोगियों एवं परामर्श दाताओं में गाँधीवादी के० पी० केशवनमैनन और मन्नथ पद्मानाभ्न भी थे। ये उच्च जाति के

थे और ये इसी सत्कार्य के लिए माधवन के साथ जेल तक गये। यह विचित्र बात है कि मन्नथ पद्मनाभन उस नायर सेवासंघ के संस्थापक थे जो नायर समुदाय के उत्थान में लगा था। दूसरी ओर उन्होंने नायरों से निम्न जाति से अधिकारों के लिए सत्याग्रह किया और जेल भी गये।

इन संघर्षों और गिरफ्तारियों से मन्नथ पद्मनाभन संतुष्ट नहीं थे। इसलिए उन्होंने दो-दो जलूसों का नेतृत्व किया। ये जलूस उत्तर और दक्षिण से प्रारम्भ हुए जिनमें एक-एक हजार सवर्णों के भाग लिया। इन्होंने राज्य की राजधानी त्रिवेन्द्रम तक सौ मील से अधिक की पदयात्रा की और समूचे निम्नवर्गों की ओर से महाराजा को एक याचिका दी। इस पर महाराजा ने काफी सहानुभूति दिखाई और उन्होंने इस समस्या पर विचार करने के लिए विधान सभा में अनुमति दी। मंदिर को जाने वाली सड़कें एक ही वर्ष के भीतर सब वर्गों के लिए खोल दी गईं। यह सब वर्ष 1925 में हुआ।

सी० केशवन ने ऐजावाओं को मुख्यत: राजनीति में दीक्षा दी और इसकी गतिविधियों को प्रतिनिधि सरकार के लिए चल रहे आन्दोलन के साथ मिलाया। यह एक नया मोड़ था जहाँ ऐजावा, ईसाइयों और मुसलमानों ने साथ मिलकर स्वतंत्रता आन्दोलन लड़ा।

श्री नारायण धर्म परिपालन के एक और जीवट सचिव, आर० शंकर, ने शिक्षा-प्रचार में अपनी सारी शक्ति लगा दी। पन्द्रह सालों के भीतर योगम् के तत्वावधान में 3 कॉलेज चलाये गये।

अध्याय 13

सहोदर्न अय्यप्पन

सहोदर्न संगम के संस्थापक अय्यप्पन ने, जिनका पहले भी उल्लेख किया जा चुका है, का नाम केरल के सामाजिक आन्दोलन के इतिहास में अमर हो गया है। वास्तव में उन्होंने स्त्री, पुरूष, बच्चे और विशेष रूप से समाज के निम्न वर्ग के उत्थान के लिए अनेक यातनाएँ सहीं तथा क्रान्तिकारी परिवर्तन लाने में बहुत बड़ा योगदान दिया। ऐजावाओं में रूढ़िवादी लोग उच्च जातियों से जो अधिकार और सुविधाएँ प्राप्त कर रहे थे उन्हें वे अपने से निम्न जाति के लोगों को देने के लिए विरोध कर रहे थे। यह श्री नारायण गुरू की सुधार संबंधी संकल्पना कदापि न थी क्योंकि वे इस बात को मानते थे कि वह सभी पर समान रूप से लागू होनी चाहिए।

कोचीन राज्य में अय्यप्पन पहले ऐजावा स्नातक थे। सभी निम्न जाति वालों को उन पर इतना गर्व था कि वे उन्हें अय्यप्पन बी० ए० कह कर पुकारते थे मानो स्नातक उनके नाम का ही एक अंग हो। उनका सम्मान राजकुमार की तरह किया जाता था और लोग उनके वचनों पर निर्भर करते थे। उन्हें उनके महान् व्यक्ति बनने की पूर्ण आशा थी। निश्चय ही वे महान् बने किन्तु उस रूप में नहीं जैसा वे लोग चाहते थे।

वे चाहते थे कि सभी अछूत आपस में मिलें, आगे आयें, एक-दूसरे के साथ खायें-पियें और यहाँ तक कि अन्तर्जातीय विवाह भी करें। एक बार फिर एक ऐसे नेता का जन्म हुआ था जो अपने समय से बहुत आगे था। जो लोग यह सोचकर खुश हो रहे थे कि उन्होंने (अय्यप्पन के रूप में) खजाना पा लिया है उन्हें बाद में लगा कि वास्तव में उन्होंने एक विरोधी पाया है।

उन्होंने सभी जातियों में समानता का उपदेश दिया। उपदेश देना तो बहुत आसान था पर वे तो वास्तव में सहोदर्न संघ को उसका असली रूप दे रहे थे।

वे जो भी उपदेश देते उसका स्वयं भी पालन करते थे। इस बात को पचा पाना उन लोगों के लिए बहुत कठिन था। लोगों ने उनको (ऐसा न करने की) सलाह दी। उनकी आलोचना की। उनका मजाक उड़ाया। उनको भला-बुरा कहा। उन्हें पीटा और अंततः उन्हें काँटों का ताज भी पहनाया।

अय्यप्पन ने यह सब असीम धैर्य से सहन किया। और, जब लोगों ने यह दावा किया वे गुरू के उपदेश के विरूद्ध जा रहे हैं तो वे सीधे उनके पास गये और गुरू का आदेश प्राप्त किया। श्री नारायण गुरू ने लिखित रूप में उनको समर्थन दिया।

"व्यक्ति की वेश-भूषा, रीति-रिवाज, जाति या धर्म जो भी हो, क्योंकि वे सब मानव हैं, अतः उनके एक साथ बैठकर खाने या अन्तर्जातीय विवाह में कोई भी आपत्ति नहीं हो सकती।"

यह गुरू का एक सार्वभौमिक एवं प्रसिद्ध कथन बन गया।

ऐसे सूक्तिपूर्ण कथन ही आम आदमी के दैनिक जीवन के मंत्र थे। ऐसे ही मंत्रों ने ब्रह्मांड में एकात्म के मूलभूत सिद्धान्त को समझने में उनकी सहायता की। वे जानते थे कि जीवित कहने के लिए ये मूल आधार हैं, यही उनके लिए यर्पाप्त था।

स्वामी ने अपने परम शिष्य अय्यप्पन को इन प्रेरणादायक शब्दों से आशीर्वाद दिया—"तुम में यीशु मसीह का धैर्य होना चाहिए।" स्वामी ने उनकी प्रशंसा में जो यह महान् उक्ति कही उसके वे सच्चे अधिकारी थे।

उन्होंने पूरे केरल में घूमकर गुरू का संदेश फैलाया और उसमें अत्यधिक सफलता प्राप्त की। फिर कभी केरल के लोगों ने पुरानी रूढ़ियों की ओर नहीं देखा। उनकी मृत्यु के बाद, उनकी पत्नी, पार्वती, ने अलवै के निकट एक पहाड़ी पर जिसे श्री नारायण गिरि के नाम से जाना जाता है निराश्रितों के लिए एक अनाथालय की स्थापना की। और इस प्रकार उनकी मृत्यु के 10 वर्ष से अधिक की अवधि के बाद भी उनके कार्य को जारी रखा हुआ है।

अध्याय 14

गुरू के चमत्कार

ईश्वर, जिसे वे समझ भी नहीं पाते, के प्रति अज्ञानता ऐसी चमत्कारपूर्ण है कि वह उन्हें उसकी पूजा करने की प्रेरणा देती है।

—आनन्दकुमार स्वामी

श्री नारायण गुरू को जनसाधारण में सफल बनाने में उनके चमत्कारों की कहानियों एवं दंतकथाओं का बहुत बड़ा हाथ है। इनमें से कई तो अतिशयोक्ति-पूर्ण हैं और कई में अन्धविश्वास की भावना भरी है जबकि कुछ अन्य पूरी तरह मनघड़न्त है। ऐसी ही एक कथा है जिसका सम्बन्ध उच्च वर्ग के उस तालाब को सुखाने से है जिसमें उन्हें नहाने नहीं दिया गया था। ऐसी कथाओं को सहज ही नकारा जा सकता है। यह न तो उनके व्यक्तित्व के और न ही योग को औदात्य के अनुरूप है।

स्वामी ने वस्तुत: जो कुछ किया और उनके साथ जो अतिशयोक्तियाँ जोड़ी गई हैं वे असल में उनमें निहित मूल-भावों की अतिशयोक्तियाँ हैं न कि वास्तविक घटनाओं की। जब साधारण व्यक्ति किसी ऐसी बात का वर्णन करना चाहता है जिसे वह व्यक्त नही कर सकता और न ही उसकी व्याख्या कर सकता है तब उसे अतिशयोक्ति का सहारा लेना पड़ता है।

साधारण व्यक्ति का विश्वास, चाहे वह भ्रम ही क्यों न हो, ही सत्य है। जैसा कि शेक्सपीयर ने कहा है—"विश्वास ही वास्तविकता है"। यह जनमानस की भावनाओं पर बहुत प्रभाव डालता है। जब उन्हें (दन्त) कथाओं से यह ज्ञात होता है कि अमुक व्यक्ति महात्मा है तो वे सहज रूप में ही उसके अनुयायी हो जाते हैं। इसके पीछे उनका भोला भाव निहित होता है। वे तो इतना जानते हैं कि "हमें नहीं मालूम पर उसे सब कुछ मालूम है।" यह विश्वास, भले हमें कितना ही बुरा क्यों न लगे, पर इस में किसी तर्क का कोई आधार न होने से लोगों के विश्वास में कोई अन्तर नहीं आता। इस तरह पीढ़ियों से चले आ रहे

रीति-रिवाजों और प्रथाओं को यदि स्वामी के तर्कपूर्ण विचारों से समाप्त करने का प्रयास किया जाता तो जनमानस उसे कभी स्वीकार न करता। इन विश्वासों को तभी खत्म किया जा सकता था जब लोगों में गुरू के प्रति यह विश्वास हो जाए कि गुरू "ईश्वर का दूत है"।

इसी में इसकी गरिमा है। यह नितान्त सत्य है कि ढोंगी लोग अन्धविश्वास पैदाकर और अपने अनुयायियों को बेवकूफ बनाकर धन और यश कमाते हैं। किन्तु दूसरी ओर उनकी यह गरिमा ही है जिसके कारण मनुष्य विश्वास करता है और इस तरह ढोंगी लोग सफल हो जाते हैं। आप किसी व्यक्ति के विश्वास से खेल-कर उसे कब तक बेवकूफ नहीं बना सकते जब तक कि सम्बद्ध व्यक्ति के विश्वास में गरिमा का आधार नहीं होता।

यह कहा जा सकता है कि सही परिप्रेक्ष्य में स्वामी का जो अद्वितीय प्रभाव लोगों पर पड़ा उसको जानने के लिए उनके चमत्कारों का विश्लेषण करना आवश्यक है। यहाँ हम सैकड़ों उदाहरणों में से केवल दो-तीन का ही उल्लेख कर रहे हैं।

उन दिनों के निर्विवाद सामाजिक नेता और गुरू के दायें हाथ—परमेश्वरन ने डॉ० पालपू के भाई को बताया कि 1885 में एक दिन स्वामी ने कहा—"लगता है मदन आश्न (स्वामी के पिता) का देहान्त हो गया है।" और कुछ ही घंटों में एक व्यक्ति उनकी मृत्यु का समाचार लेकर वहाँ आ पहुँचा।

अरूविपुरम में सर्दियों की एक रात स्वामी और उनके परम शिष्य, नानी आश्न, खुले मैदान में आग के पास बैठे आराम कर रहे थे। स्वामी ध्यानमग्न थे जबकि आश्न, कम्बल ताने सो रहे थे। कुछ समय बाद आश्न को स्वामी ने एक लकड़ी से जगाते हुए कहा—"उधर देखो।" जब आश्न उठे तो उन्होंने देखा कि आग की दूसरी ओर एक शेर अपने बच्चे के साथ बैठा उन्हें शान्त भाव से निहार रहा था। स्वामी ने कहा—"चिन्ता मत करो, वे हमें कुछ नहीं कहेंगे।" नानी आश्न ने (भय के मारे) एकदम अपने आपको कम्बल से ढक लिया, जोर से आंखें बन्द कीं और लेट गये। कुछ समय बाद जब वे उठे तो दोनों (शेर और उसका बच्चा) जा चुके थे।

स्वामी के कई शिष्यों ने इस बात को ध्यान से देखा है कि स्वामी जी जंगलों में भी बड़े मुक्त भाव से रहते थे और उन्हें जंगली जानवरों से किसी प्रकार का डर नहीं लगता था। इतना ही नहीं वे जंगली जानवर उनकी उपस्थिति में पालतू जानवरों के समान व्यवहार करते थे।

"यदि आप किसी से भयभीत न हों या किसी वस्तु अथवा व्यक्ति के प्रति वैर-भाव न रखें तो आप किसी भी प्रकार के वैर को शान्त कर सकते हैं।" यही वह

यौगिक मंत्र था जिसके द्वारा उन्होंने वस्तु ही नहीं मानव पर भी पूर्ण विजय प्राप्त की थी।

स्वामी जी के एक अन्य शिष्य, गुरू प्रसाद स्वामी, ने एक घटना का वर्णन इस प्रकार किया है—

एक बार स्वामी ने कहा—"मैंने एक बार एक तालाब में स्नान किया जिसके बारे में मुझे बाद में मालूम हुआ कि यह तालाब उच्चवर्ग के लोगों के लिए था। कुछ लोगों ने मुझे पीटने के लिए लाठियाँ उठा लीं। मैंने शान्त भाव से पूछा, "क्या हुआ ?" (इतना पूछना था कि) वे शान्त हो गये, उन्होंने लाठियाँ नीचे कर लीं और मुझे आराम से जाने दिया।"

यह वह घटना थी जो इस विश्वास में बदल गई कि स्वामी के शाप से तालाब सूख गया।

न्यायाधीश एम० गोविन्दन एक ऐसे धर्मात्मा व्यक्ति को जानते थे जो संन्यासी के वस्त्र पहनते थे और हर साल सुब्रह्मण्यम् की पूजा करने कदालकरयन्दी मंदिर की यात्रा करने जाते थे। उन्होंने न्यायाधीश को बताया कि वह त्रिवेन्द्रम् के अस्पताल में कुछ समय तक बीमार पड़े रहे।

एक दिन एक आदमी अस्पताल में आया और उसने बताया कि उसकी माँ बहुत बीमार है। क्योंकि वह व्यक्ति गठिया का मरीज था, इसलिए वह चल नहीं पा रहा था। किन्तु उसके मन में माँ के अन्तिम दर्शन की इच्छा इतनी तीव्र थी कि उसने रेंगते हुए घर पहुँचने का निश्चय किया। वह रेंगता हुआ बहुत मुश्किल से फाटक तक पहुँचा था कि उसने देखा श्री नारायण गुरू अपने तीन-चार शिष्यों के साथ उसी ओर चले आ रहे हैं। गुरू उसके सामने आकर रुक गये। उस (मरीज) ने करबद्ध हो उन (गुरूजी) से सहायता की याचना की। शान्तभाव से उसकी बात सुनकर स्वामी जी ने उसको खड़े होने के लिए कहा। वह खड़ा हो गया। अपने शिष्यों में से एक से छड़ी लेते हुए स्वामी ने उसे दी और चलने के लिए कहा। वह मरीज चलते-चलते घर गया। तब से वह एक पवित्र व्यक्ति बन गया और संन्यासियों के वस्त्र धारण कर हर साल कदालकरयन्दी के पवित्र स्थल जाने लगा।

मानसिक अभिशाप, उन्माद, मतिभ्रम आदि गुरू के प्रभाव से ठीक होने वाले कुछ ऐसे चमत्कार हैं जिनका श्रेय पारलौकिक शक्ति को दिया जाता है।

इसी प्रकार की दूसरी और भी घटनाएँ हैं जिनका सम्बन्ध अलसर, गठिया और इसी प्रकार के ऐसे दर्दों या चर्म विकारों से है जो लाइलाज थे, और न ही जिनका पता चलता था, को भी उन्होंने ठीक किया। ऐसे ही रोगों का सम्बन्ध आज मानसिक तनावों से जोड़ा जाता है। महत्वपूर्ण बात यह है कि स्वामी ने

कभी प्रदर्शन के लिए ऐसे उपचार नहीं किये। "परमात्मा में विश्वास ने उनको ठीक किया है" कह कर वे अपनी प्रशंसा को नकार देते थे।

उन दिनों पाश्चात्य शिक्षा से प्रभावित अनेक लोग उन्नीसवीं शताब्दी में रहते हुए विश्वास उपचार को केवल अंधविश्वास मानते थे। यद्यपि उन्होंने इन कथाओं को महत्व नहीं दिया फिर भी इनको अपने लेखन से नहीं निकाला। इतना होने पर भी ऐसी घटनाओं से जनसाधारण पर जो प्रभाव पड़ा उनको श्री नारायण गुरू की जीवन-कथा में जोड़ना ही पड़ेगा। यह अलग बात है कि इन पर कोई विश्वास करे या न करे।

इतना ही नहीं, मनोमित्तिक (साइकोमैटिक) रोगों के सम्बन्ध में आधुनिक चिकित्सा विज्ञान में जो संकल्पनाएं उभरी हैं और साथ ही डॉक्टर के आकर्षक व्यक्तित्व से जो इलाज होते हैं वे इन चमत्कारों पर अलग ही प्रकार का प्रकाश डालते हैं। आधुनिक चिकित्सा शास्त्री इस बात को स्वीकार करते हैं कि ऐसी अनेक स्थितियों में "डॉक्टर ही इलाज है।" आम जनता चिकित्सा शास्त्र के इन सभी पक्षों को नहीं जानती थी उनके लिए केवल "स्वामी ही इलाज थे।"

जैसा कि अध्याय के शुरू में कहा गया है कि गुरू के प्रति लोगों का अत्यधिक विश्वास और श्रद्धा थी। अतः यह उनकी आस्था ही थी जिसने उन्हें गुरू के द्वारा चलाये गये सुधार आन्दोलनों का अनुसरण करने के लिए प्रेरित किया।

अध्याय 15

समाज-सुधार

दलितों के उत्थान के लिए गुरू ने जो व्यापक योजनाएँ सुझायीं थीं उनमें समाज-सुधार की एक योजना थी। विभिन्न स्थितियों की आवश्यकता के अनुसार उन्होंने समय-समय पर जो विचार सुझाये थे उनको 1912 में उन्होंने सूत्र रूप में आबद्ध किया।

उनका मत है कि समय के अनुसार शिक्षा, प्रगति का मूल आधार है। समाज में ऐसे बहुत से होनहार बालक होते हैं जिनका विकास समाज की सम्पत्ति के रूप में हो सकता है। धनाभाव ही उनकी उन्नति का मूल कारण है। धनवान लोगों को ऐसे बुद्धिमान, अध्ययनशील, परिश्रमी बच्चों को छात्रवृत्ति तथा आर्थिक सहायता देने के लिए आगे आना चाहिए।

लड़कियों की शिक्षा को प्रोत्साहन देना चाहिए और उसकी कभी उपेक्षा नहीं करनी चाहिए। पददलित लोगों को अपने पाँव पर खड़े होने का अवसर देना चाहिए। ऐसे वर्गों के लिए कुटीर उद्योगों की व्यवस्था की जानी चाहिए। उन्हें सहकारी क्षेत्र में काम करने के लिए स्थान मिलना चाहिए। समृद्ध देशों को सस्ते भावों पर कच्चा माल देकर उनसे भारी दामों पर तैयार माल खरीदने की अपेक्षा उन्हें अपने ही देश में माल बनाना चाहिए और इस प्रकार निर्धन लोगों की आर्थिक सहायता करनी चाहिए। अमीरों की दौलत का इस प्रकार सदुपयोग होना चाहिए।

सार्वजनिक शिक्षा की बहुत आवश्यकता है। प्रत्येक क्षेत्र में पुस्तकालय की स्थापना तथा प्रौढ़-शिक्षा को प्रोत्साहन दिया जाना चाहिए। जब तक अशिक्षित, अक्षर ज्ञान प्राप्त कर धीरे-धीरे प्रगति के पथ पर आयें, नेताओं को उनके सांस्कृतिक पुनरुत्थान की ओर ध्यान देना चाहिए। विद्वानों को भाषाओं, गीतों, नाटकों आदि विभिन्न सांस्कृतिक कार्यक्रमों के माध्यम से इन अशिक्षितों को

आधुनिक विचारों और संस्कृति के बारे जागृति पैदा करनी चाहिए।

श्री नारायण धर्म परिपालन योगम् ने "विवेक उदयम" नामक पत्रिका शुरू की। कुमारन आशन जो स्वामी जी के प्रमुख शिष्य, महान् विचारक एवं आधुनिक केरल के महान् कवि थे, इस पत्रिका के सम्पादक थे। इस पत्रिका का उद्देश्य आधुनिक विचार-धारा के द्वारा जनसामान्य के सांस्कृतिक स्तर को ऊँचा उठाना था।

स्वामी जी का कथन था कि धार्मिक प्रथाओं, सामाजिक रिवाजों और अनुष्ठानों के अपने प्रतीकात्मक अर्थ होते हैं। अतः इनकी उपेक्षा नहीं करनी चाहिए। इस पत्रिका में उन्होंने अन्तर्जातीय विवाह, विभिन्न अनुष्ठानों में सुधार और धन तथा समय में बचत आदि के लिए आधुनिक दृष्टिकोण अपनाने की बात रखी है। वैवाहिक अनुष्ठानों का जो स्तर-धर्म, संस्कार, धन, निरर्थक रिवाजों आदि से आंका जाता था उसको खत्म करना भी इसका उद्देश्य था।

जो रूढ़िवादी इन परिवर्तनों के पक्ष में नहीं थे उन्होने ये झूठी अफवाहें फैलायीं कि कुमारन आशन यह सब मनघड़ंत बातें लिख रहे हैं। इनकी न तो स्वामी जी को कोई जानकारी ही है और न ही उनसे सहमति ली गई है। स्वामी जी ने इस शंका का निराकरण अपने एक-दो सार्वजनिक भाषणों में किया और उन्होंने समाज में इन सुधारों की आवश्यकता पर बल दिया।

उन दिनों गैर ब्राह्मणों का विवाह मात्र एक सामाजिक उत्सव था जबकि ब्राह्मणों का विवाह ही विधि-विधान के साथ अर्थात् प्रार्थना, पूजा, मंत्र, शपथ आदि के साथ होता था। इसमें तीन-चार दिन तक लग जाते थे।

स्वामी जी ने गैर ब्राह्मणों का विवाह भी उन संस्कारों, पूजाओं, वैदिक मंत्रोच्चार, पारस्परिक शपथ आदि के अनुसार प्रारम्भ किया जिनका उपयोग पारस्परिक हिन्दू विवाह पद्धति में होता था। गुरू जी आधुनिक मनुष्य के मस्तिष्क को अच्छी तरह से जानते थे इसलिए उन्होंने विवाह-संस्कार कराने की अवधि को कम करके उसे आधे घंटे का कर दिया। और जो लोग बहुत व्यस्त रहते थे उनके लिए तो दस मिनट तक का कर दिया।

यह विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि जब ऐजावा जाति में स्वामी जी के कुछ निकटतम अनुयायियों ने इन संस्कार समारोहों को अपनाया और उन्हें मन्दिर में भी करने लगे तो नायर जैसी गैर ब्राह्मण जातियों ने भी विवाह अनुष्ठानों को मंदिर में करना शुरू कर दिया।

ऐजावा और कुछ उच्च जाति के लोग लड़की के वयस्क होने से पहले उससे एक स्वाँग-विवाह किया करते थे और उसके वयस्क होने पर वास्तविक विवाह करते थे। जो व्यक्ति यह अनुष्ठान संपन्न करता था वह बच्चे के गले में 'तल्ली' नामक

एक छोटा-सा आभूषण पहना देता था। यह आभूषण उसके विवाहित होने का प्रतीक होता था। लड़की के वयस्क होने पर उसका वास्तविक विवाह-संस्कार होता था चाहे उसका दूल्हा कोई और ही क्यों न हो। गुरू ने घोषणा की कि यह "तल्ली बंध" संस्कार निरर्थक है और इसको समाप्त करना चाहिए। कुछ स्थितियों में तो उन्होंने बच्चों के माता-पिता को सीधे ही ऐसा न करने का संदेश भेजा। एक-आध बार तो उन्होंने ठीक इस संस्कार के समय पहुँचकर लड़की के पिता को ऐसा न करने के लिए सहमत किया और वे मान भी गये। यह उल्लेखनीय है कि एक बार तो पिता की अपेक्षा माता इस प्रथा को रोकने के लिए पहले ही मान गई।

गुरू ने एक और प्रथा को बन्द किया जिसमें लड़की के वयस्क होने पर समाज को दावत दी जाती थी और समारोह किया जाता था।

यह और इसी प्रकार के अन्य सामाजिक उत्सवों का गुरू ने उन्मूलन किया। इसमें लोगों के हजारों रुपये बच गये जिन्हें वे अपनी सामाजिक प्रथाओं पर अंधाधुंध खर्च करते थे। इनका ही नहीं ये प्रथाएँ अब तक निरर्थक हो चुकी थीं। स्वामी के आदेशानुसार जब ऐजावा समुदाय ने यह सुधार कर लिए तो नायर आदि ने भी ऐसे पुराने उत्सवों को करना बद कर दिया।

स्थानाभाव के कारण गुरु के द्वारा लाये गये सभी सुधारों की यहाँ चर्चा नहीं की जा सकती। किन्तु, अनेक निम्न जातियों को एक साथ मिलाना विशेषरूप से उल्लेखनीय है।

केरल में कुछ ऐसी जातियाँ थी जो संख्या में बहुत ही छोटी थीं और इन अल्पसंख्यकों की अशक्तता अपने ही प्रकार की थी। उन पर जो अत्याचार होते थे उनके विरुद्ध आवाज उठाने में वे असमर्थ थे। चूँकि ये अल्पसंख्यक जातियाँ विभिन्न स्थानों पर बिखरी हुई थीं, अतः अपनी ही जाति वालों में अपने बच्चों का विवाह करने में उन्हें काफी कठिनाई होती थी। स्वामी ने ऐजावाओं के माध्यम से उन्हें एकत्र किया और इस प्रकार उन्हें सामाजिक संकट से उबारा। यह सब उन्होंने वर्ष 1906 में ही कर लिया था।

लगभग इसी संदर्भ में उन्होंने निराशा में कहा था—"हमें जाति रहित समाज का निर्माण करना है। इसके लिए कौन काम करेगा ?"

इस विचार को लेकर श्री नारायण धर्म समाज का निर्माण हुआ जिसमें ब्राह्मण, नायर, ऐजावा आदि विभिन्न जातियों के अनुयायी संन्यासी थे।

शिवगिरी, अलवै आदि संस्थाएँ ऐसी ही संस्थाएँ हैं जिनमें प्रारम्भ से ही जातिभेद को समाप्त कर दिया और ये संस्थाएँ संन्यासियों के इस समाज द्वारा चलायी जायी हैं। ये संन्यासी ब्रह्मचारी हैं जो पत्नी, बच्चे आदि के सांसारिक

बन्धन से मुक्त हैं और जो मानव-जाति के कल्याण में ही अपना जीवन बिताना चाहते हैं। साथ ही ये धार्मिक संस्थाओं, स्कूलों एवं धमार्थ औषधालयों आदि का भी संचालन करते हैं। निम्न जातियों को स्वामी के दर्शन का ज्ञान करवाना भी इन संस्थाओं का उद्देश्य है।

निषेध

1921 में ही उन्होंने कहा था—"शराब जहर है। इसका न तो उत्पादन किया जाना चाहिए और न ही इसे बेचना चाहिए और न ही पीना चाहिए।" वास्तव में उन्होंने यह बात मद्य-निषेध के लागू होने से कई वर्ष पहले ही सोच ली थी।

अध्याय 16

अन्तकाल

फरवरी 1928 में श्री नारायण गुरू गम्भीर रूप से बीमार हो गये। तत्काल पूरे केरल में उनकी बीमारी का समाचार फैल गया। स्वामी जी पहली बार बीमार हुए हों, ऐसा नहीं था। इससे पहले भी वे बीमारे पड़ चुके थे और कभी-कभी तो इससे भी भयंकर रूप से बीमार हो चुके थे पर इस बार जैसे लोगों को क्षति का पूर्वाभास-सा हो गया था।

बवासीर की पुरानी बीमारी ने इस बार भयंकर रूप ले लिया था। आगे चलकर मूत्र की बीमारी ने इसे और अधिक जटिल बना दिया। विशेषज्ञों द्वारा इलाज और अच्छी देखभाल के बावजूद उनकी हालत दिन-व-दिन गिरती ही चली गई। मद्रास, पालघाट, त्रिवेन्द्रम आदि में उनका इलाज ऐलोपैथी और आयुर्वेदिक दोनों पद्धतियों से अलग-अलग और एक साथ किया गया लेकिन कोई सफलता नहीं मिली।

अन्ततोगत्वा 20 सितम्बर 1928 सायं चार बजे उन्होंने समाधि ले ली। उस समय वे 72 वर्ष के थे।

मृत्यु से दो दिन पूर्व उन्होंने अपने शिष्यों को बताया कि उनका दर्द काफी कम है और वे काफी राहत महसूस कर रहे हैं। जैसे-जैसे अन्त निकट आ रहा था उनके शिष्यों ने अखण्ड पाठ और जाप किया। स्वामी विद्यानन्द उस समय "योग वशिष्ट" का पाठ कर रहे थे जिसमें आत्मा की मुक्ति के बारे में वर्णन है। जब स्वामी विद्यानन्द मोक्ष प्राप्ति के खण्ड तक पहुँचे तो स्वामी जी ने भी मोक्ष प्राप्त कर लिया।

स्वामी जी की मृत्यु का समाचार सुनकर अपार जनसमूह, अनेक संन्यासी, स्वामी जी के शिष्य, समाज के शिष्य, समाज के नेता आदि दूर-दूर से शिवगिरि में पहुँच गये। उनमें से अधिकांश वहाँ तब तक ठहरे रहे जब कि स्वामी जी के नश्वर

शरीर को धार्मिक रीति-रिवाजों के अनुसार चिर-समाधि नहीं दी गई।

इस बात का उत्तर स्वामी जी के शिष्य आज तक नहीं दे पाये कि कैसे हजारों लोगों के ठहरने, खाने और देख-भाल की व्यवस्था वे कर पाये क्योंकि सभी ने उस धर्म कार्य में हाथ बँटाया था इसलिए सब कुछ निर्बाध, निर्विघ्न रूप से हो गया।

संन्यासियों, ब्रह्मचारियों एवं हजारों लोगों ने उपवास रखा तथा रात भर पूजा में बितायी। अगले दिन उनके पार्थिव शरीर को फूलों से सुसज्जित पालकी में रखकर अपार जनसमूह के साथ शाम के समय बनजाक्षो मन्दिर के कुंज में ले जाया गया। रास्ते भर शोकाकुल जनसमूह मंत्रोच्चार एवं भजन गाता रहा। शाम पाँच बजे शवयात्रा विशेष रूप से बनाये गये समाधि-स्थल पर आकर समाप्त हुई।

इस पवित्र समाधि का वर्गक्षेत्र 30 फुट था और यह 7 फुट गहरी थी। इसके मध्य में एक ऐसा गड्ढा बनाया गया था जो 5 फुट लम्बा और 5 फुट चौड़ा था और इसकी गहराई भी 5 फुट थी। इसमें पत्थर लगाये गये और इसकी नींव भी पक्की रखी गई।

स्वामी जी के पार्थिव शरीर को आसन की मुद्रा में रखा गया और फिर सर को खुला छोड़कर उस समाधि को नमक, कपूर, चन्दन आदि से भर दिया गया। अगले दिन सुबह उसी प्रकार सर को भी ढक दिया गया और सारे गड्ढे को एक बड़े पत्थर से बन्द कर दिया गया। इस बीच अखण्ड रूप से तब तक पूजा एवं मंत्रोच्चार चलता रहा जब तक उनके अन्तिम संस्कार नहीं किये गये। ये संस्कार उस रीति से किए गये जो अद्वैत संन्यासी के लिए निर्धारित हैं। इस संस्कार के पूरा होने के बाद भी 45 दिन तक विशेष पूजा होती रही।

केरल की थियोसोफिकल सोसाइटी की पत्रिका "सनातन धर्मम्" में लिखा है—

"20 सितम्बर 1928 को महान ऋषि के देहावसान से केरल में अंधकार छा गया।"

लोग उनकी तुलना केरल के ही दो और महान् मनीषियों—शंकराचार्य तथा थुनचताचार्य से करते हैं। शंकराचार्य को केरलवासियों से दुर्व्यवहार मिला और थुनचताचार्य को उनकी मृत्यु के बाद सम्मान मिला किन्तु श्री नारायण गुरू को उनके जीवनकाल में ही सभी वर्गों से इतना दीर्घकालीन, शानदार तथा अद्वितीय सम्मान मिला जिसकी मिसाल हिन्दुस्तान में शताब्दियों से नहीं मिलती।"

"केरल की जागृति के लिए जैसे वे योग के पातंजलि, ज्ञान के शंकर सामाजिक नियमों के मनु, त्याग के बुद्ध, दृढ़प्रतिज्ञा के नबी तथा दीनता के यीशु रहे हैं।

वे मानवता के अमरत्व की ओर गये।

"भावी पीढ़ियों के लिए जैसे वे अवतारों में से एक होंगे।"

गुरू जी ने न केवल निम्न वर्ग की मुक्ति की लड़ाई जीती बल्कि साथ ही साथ उन्होंने उच्च वर्गों से भी सम्मान और प्यार पाया।

अध्याय 17

गुरू का जीवन दर्शन

"मेरा मार्ग शंकराचार्य का ही मार्ग है।"

—श्री नारायण गुरू

नटराज गुरू के कुछ निबन्धों को पढ़ने के बाद रोमाँ रोलाँ ने लिखा है : "ग्लासनप्प ने दक्षिण भारत की नयी धार्मिक अभिव्यक्तियों के बारे में कुछ नहीं कहा है क्योंकि ये अभिव्यक्तियाँ मामूली नहीं हैं। इस सम्बन्ध में श्री नारायण गुरू का नाम उघृत किया जा सकता है जिनकी परोपकारी आध्यात्मिक गतिविधियाँ पिछले 40 वर्षों से ट्रावनकोर राज्य में उनके लगभग 20 लाख अनुयायियों पर प्रभाव डालती रही है। (उनका देहान्त 1928 में हुआ था)। उनके उपदेश शंकराचार्य के दर्शन से अनुप्रमाणित हैं। यह उपदेश बंगाल के रहस्यवाद से काफी भिन्न है क्योंकि इसमें जो प्रेम का आधिक्य (भक्ति) है उसने उनमें कुछ संशय पैदा कर दिया था। उन्होंने एक तरह से कर्म, ज्ञान और महान् धर्म के वेत्ता कहा जा सकता है जिसे लोगों के जीवन और समाज की आवश्यकताओं की अच्छी पहचान थी। उन्होंने दक्षिण भारत के शोषित वर्गों के उत्थान के लिए काफी काम किया। कभी-कभी तो उनके कामों को गाँधी जी के कार्यों के साथ जोड़ा जाता है। (देखिए जनेवा में प्रकाशित दिसम्बर 1928 और उसके बाद "सूफी क्वाटरली" अंकों में उनके शिष्य पी० नटराजन के लेख) लेखक रोमाँ रोलाँ द्वारा लिखित "श्री रामकृष्ण का जीवन"।

किसी पाश्चात्य विद्वान द्वारा गुरू पर लिखा गया यह सर्वोत्तम सारगर्भित रेखाचित्र था।

जिन विद्वानों ने स्वामी के दर्शन पर प्रकाश डाला है उनका कथन है कि उन्होंने शंकराचार्य की भाँति गीता के संदर्भ में वैदिक-दर्शन की पुनर्व्याख्या की है।

गीता के विद्वानों का मत है कि जहाँ उपनिषद् परम सत्य के साथ तादात्म्य स्थापित करने के लिए केवल ज्ञान मार्ग पर बल देते हैं वहाँ गीता कर्म-योग, भक्ति-योग एवं ज्ञान-योग तीनों मार्गों पर बल देती है।

गीता की मौलिकता इस बात में है कि इसने इन तीनों मार्गों को एक साथ मिला दिया है। शंकराचार्य ने एक ओर गीता एवं अन्य वेदों के संदेश का गहराई से प्रतिपादन किया और दूसरी ओर इस बात की भी स्थापना की कि वैदिक दर्शन की पराकाष्ठा अद्वैतवाद है।

श्री नारायण गुरू ने इस कथन की पुनर्स्थापना की। पुनर्स्थापना इस प्रक्रिया में उसका न केवल विस्तार किया वरन् उसे नया रूप दिया। वस्तुत: वेदों से लेकर आज तक सर्जनात्मक आवृत्ति हिन्दू धर्म की मुख्य प्रवृत्ति रही है।

प्रारम्भ में वेद, प्रार्थना के रूप में दिखाई देते हैं और बाद में ये प्रार्थनाएँ उच्च आध्यात्मिक स्तर तक पहुँच गईं। नि:संदेह उपनिषद् मनीषी क्रान्तिकारी थे। सार्वभौमिक रहस्यवाद की ओर बढ़ने के उद्देश्य से इन्होंने वेदों के याज्ञिक धर्म पर पूर्णतया बल दिया। फिर भी जब वे पहली संकल्पनाओं के आधारभूत संशोधनों में लगे थे उस समय उन्होंने उन सभी संकल्पनाओं का उपयोग किया जो वैदिक मंत्रों में उपयोगी थीं।

गीता के उपनिषद् दर्शन का विस्तार किया, समेकन किया और उसका संश्लेषण किया।

श्री नारायण गुरू ने विशेषकर गीता की शिक्षा पर बल दिया है। इसमें कहा गया है कि योग के माध्यम से व्यक्ति स्वयं में, समाज में एवं परमात्मा से तादात्म्य स्थापित कर लेता है।

गुरू जी कर्मकांडी नहीं थे और न ही वे ऐसे वेदान्ती थे जो इस बात में विश्वास करते थे कि व्यक्ति को यदि मोक्ष प्राप्त करना है तो उसे सभी प्रकार की क्रिया-कलापों को छोड़ देना चाहिए।

उन्होंने केवल ब्रह्म-चिंतन के लिए संसार को त्यागकर जंगलों में अपना समय नहीं बिताया। एक बार परम तत्व के साथ अद्वैता का अनुभव कर लेने पर उन्होंने समाज के बीच जीवन-यापन करना आरम्भ कर दिया। उनका त्याग, कर्म का नहीं था बल्कि कर्म के फल का त्याग था। वे गीता के संदेश के अनुसार जीये जो जीव को ब्रह्म में जीने और संसार में उसकी इच्छा का पालन करने का आदेश देती है। उन्होंने सात्विक जीवन व्यतीत किया। उन्होंने आत्मा में ही शरण ली। उन्होंने संसार की सभी वस्तुओं एवं पदार्थों में एक ही सत्य को देखा।

इस प्रकार गुरू ने हमें वेदान्तिक दर्शन को समझाया। आत्मोपदेश शतक नामक उनकी महान् दार्शनिक कविता बार-बार हमें यह बताती है कि मात्र ज्ञान

काफी नहीं है। वह बताती है—स्वयं में देखो—ढूंढो-खोजो—कोशिश करो—अनुभव करो—देखो यह सब कैसे होता है—इस पर विचार करो—और जो कुछ तुम्हें बताया जाए उसका अभ्यास करो। बार-बार ऐसे उपदेशों का लक्ष्य है—मनुष्य स्वयं इस बात का अनुभव करे कि वेदान्त को समझने का अर्थ उसकी पंक्तियों का अर्थ कर लेने मात्र से ही नहीं हो जाता बल्कि स्वयं में उसके सत्य को जान लेने से होता है।

जैसा कि रहस्यवादी कहते हैं व्यक्ति को वही हो जाना होता है जो वह जानता है।

श्री नारायण गुरू का धर्म बताता है कि हमें जीवन के सभी पक्षों का सामना करना है। पूरी मानवता को सौहार्द, बन्धुत्व एवं प्रेम के साथ रहकर तथा जातीयता, राष्ट्रीयता, धर्म, वर्ण आदि के मतभेदों से मुक्त हो उस ब्रह्म के प्रति निष्ठावान रहना चाहिए। यह सब उस परमसत्व के प्रति होना चाहिए जो शान्त है, शिव है। अद्वैत ही जिज्ञासु को ब्रह्म-सत्य की प्राप्ति से जो अनुभूति होती है वही इस ज्ञान से भी मिलती है। वस्तुतः दोनों प्रक्रियाएँ एक ही हैं। यह बात भले ही तर्क से समझ न आये किन्तु अभ्यास करने से यह अनुभव हो जाएगा कि हर कर्म में आध्यात्मिकता का पुट कैसे रहता है।

अतः गुरू का सारा बल इस बात पर था कि ज्ञान और कर्म दोनों में भेद नहीं है। गुरू इस दर्शन की व्याख्या पहले एक तरह से और फिर दूसरी तरह से करते हैं और हर बार ये यही कहते हैं—स्वयं अनुभव करो, स्वयं उसे अनुभव करो।

अध्याय 18

कृतित्व

गुरू के दर्शन को समझने के लिए उनके कृतित्व के गंभीर अध्ययन की आवश्यकता है। इसमें उनके समूचे जीवन की समस्त गतिविधियों और संदेशों का मूल-भाव मिलता है। जैसे कि पहले कहा जा चुका है उनका दर्शन अद्वैत दर्शन था। आधुनिक मानव बहुत-सी बुराइयों को विरासत में प्राप्त करता है। उन्होंने भारत के महान् सन्तों की भाँति एक ऐसा मूल दर्शन प्रस्तुत किया जिसका आधुनिक जीवन में इन बुराइयों के उपचार के रूप में प्रयोग किया जा सकता है। चूंकि वे स्वयं अद्वैतवादी थे इसलिए उन्होंने जो समाज-सुधार किया, अनुष्ठानों और कर्मकाण्डों में जो संशोधन किए, मनुष्य और मनुष्य में समभाव पैदा करने के लिए जो समर्थन दिए, शिक्षा के प्रचार-प्रसार के लिए जो प्रोत्साहन दिए, समस्त मानव-जाति को किसी प्रकार से स्वच्छ जीवन व्यतीत करने के लिए जो आह्वान किए और विशेषरूप से आर्थिक उत्थान के लिए जो संघर्ष किए उन सब के मूल में उनका आध्यात्मिक आधार था।

श्री नारायण गुरू के जीवन के मुख्य रूप से तीन सोपान हैं। भक्त के रूप में हम उन्हें इस उन्मत्त समाज के ओछे द्वन्द्व से दूर जीवन को शान्त घाटी के रूप में व्यतीत करते हुए वनों में, पर्वतों पर, नदियों के कूलों पर, सत्य के अन्वेषक के रूप में पाते हैं जिसने योगी की अन्तिम स्थिति को पा लिया है। जब वे गीता के संदेश को पूरा करने के लिए संसार में आते हैं तब वे रोमाँ रोलाँ के शब्दों में—"कर्म में ज्ञानी और महान् धर्म वेत्ता बन जाते हैं जिन्हें जनसामान्य और सामाजिक आवश्यकता की गहरी पहचान होती है।"

उनके गद्य एवं पद्य में हमें तीनों सोपानों का पूर्ण चित्रण मिलता है। पहले स्तर पर उनका काव्य मूलतः भक्ति का है। यह बहुत ही संगीतमय है। इसमें स्वामी, इष्ट देवता से भटकती आत्मा की शान्ति एवं मानसिक बल तथा स्थिरता

के लिए अनुनय करते हैं। वे वासुदेव, शिव, सुब्रह्मणयम, गणेश एवं काली की भक्ति करते पाये जाते हैं।

दूसरे सोपान में हम आत्मिक ज्योति के प्रकाश को बढ़ा हुआ देखते हैं। शुरू-शुरू में जो अस्थिर प्रकृति के आध्यात्मिक अनुभव होते हैं वे धीरे-धीरे समाप्त हो जाते हैं और क्रमश: एक परम शांति का अनुभव होने लगता है। यह परम शान्ति बहुत कम अवधि की होती है लेकिन यह आनन्द की स्थिति होती है। अनुभूति दशकम्, अद्वैत दीपिका, स्वानुभाव गीति आदि गीत इसी सोपान के सूचक हैं। ये सभी नाम वर्णित विषय को स्वत: स्पष्ट करते हैं।

कुंडलनी पत्तु कविता में परम सत्य के साथ एकात्मकता की, जहाँ तक शब्दों से सम्भव है, रहस्यात्मक अनुभूति का वर्णन मिलता है तथा इनमें पातंजलि के योग साधना के छ: सोपनों की व्याख्या की गई है। कुंडलनी आत्मशक्ति का प्रतीक है। और ये छ: सोपान उस महान् यात्रा के रहस्यमय चरण हैं जिन्हें पार करने पर परमानन्द की प्राप्ति होती है। भक्ति साहित्य में यह सबसे अधिक प्रेरणादायक कविता है। इसमे स्पष्ट संकेत मिलता है कि वास्तविक अनुभूतियों की अभिव्यक्तियाँ हैं। इनकी भाषा न केवल रहस्यात्मक है बल्कि कठिन और अनिवर्चनीय हैं।

इस प्रकार के काव्य की व्याख्या न तो ऐसे आकार की पुस्तकों में और न ही ऐसी (परिचयात्मक) पुस्तकों में की जा सकती है। इसमें तो इनकी अद्वितीयता का संकेत ही किया जा सकता है। पाठक को स्वयं उनको पढ़ने के लिए प्रेरित किया जा सकता है।

उनके कृतित्व का सार उन स्थलों पर है जहाँ वे उन अनुभवों का प्रतीकात्मक एवं चित्रात्मक वर्णन करते हैं जो उन्हें सिद्ध पुरुष के रूप में प्राप्त हुए। वे स्वयं, अपने आप में चिन्तन करते, अपने आप गुनगुनाते और अपने गूढ़ तथा रहस्यात्मक अनुभवों में लीन होते हुए दिखाई देते हैं। इनकी भाषा बहुत ही रहस्यात्मक है और इन्हें सामान्य भाषा में समझना काफी कठिन है और, न ही हमारी आधुनिक शिक्षा इसके लिए कोई सैद्धान्तिक चिन्तनधारा ही प्रस्तुत करती है।

यह ठीक वैसा है जैसा किसी ऐसे व्यक्ति को गणक (कैल्कूलस का) ज्ञान देना जिसे गणित की भी कोई जानकारी न हो।

इनके निरूपण में संक्षिप्तता के साथ ही साथ क्लिष्टता भी है। उनमें उपनिषद् दर्शन का शुद्ध सार है जो नवीन व्याख्याओं को लिए हुए है। गुरूजी ने विषम समस्याओं तथा रहस्यों को बड़े स्वाभाविक ढंग से सुलझाया है। लेकिन, वे इनकी व्याख्या का कार्य समर्थ व्याख्याकारों के लिए छोड़ देते है। किन्तु इन व्याख्याकारों को वेदान्त की उस शब्दावली से पूर्णत: परिचित होना चाहिए

जिसका गुरू जी ने बहुत सहज रूप से प्रयोग किया है। उसकी भाषा में ओजस्विता और विचारों में गहनता अप्रतिम है। हम उनकी भाषा में मलयालम के उन छोटे-छोटे सामान्य एवं पुराने शब्दों के प्रयोग को देखकर आश्चर्यचकित हो जाते हैं जो आज की भाषा व्यवहार में लुप्त हो चुके हैं। और एक बार जब इन शब्दों का अर्थ स्पष्ट कर दिया जाता है तो सामान्य व्यक्ति भी उनके सम्यक प्रयोग की प्रशंसा करता है तब ऐसा लगता है कि वही शब्द इस संदर्भ में सबसे उपयुक्त शब्द है। कभी-कभी गुरू जी पुराने शब्दों में नवीन अर्थ भी भर देते हैं जो अपनी मूल संकल्पना में वैसे नहीं थे और जब उस शाब्दिक अर्थ तक पहुँचते हैं तो हम और भी स्तब्ध हो जाते हैं। इसका मूल कारण यह है कि हमें तो वेदान्त को जीना है न कि उसे कंठस्थ करना है।

दर्शनमाला आत्मोपदेश शतकम् और दैव दशकम् उनके आध्यात्मिक चिन्तन की आधिकारिक कृतियाँ हैं। आत्मोपदेश नामक कविता आधुनिक मानव एवं भावी पीढ़ी के लिए गीता के समान मानी जा सकती है। उनके अनुसार "वे जिन्हें हम "वह" एवं "वे" के रूप में जानते हैं उस एक आत्मा के विभिन्न रूप हैं। हमारे समस्त क्रियाकलाप स्वजन हिताय के साथ-साथ परजन हिताय के लिए भी होने चाहिए।"

दैव दशकम् कविता शुद्ध, सहज एवं संगीतमय है। यह एक ही छन्द में उपनिषदों के द्वारा व्याख्यायित गूढ़ तत्व 'नेति-नेति" की ओर संकेत करती है। केवल एक ही छन्द मे ईश्वर के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करते हैं कि वह हमें प्रतिदिन आजीविका देता है और यह एक ही सांस में शरीर और आत्मा के बीच के सभी भेदों को मिटा देता है।

उन्होंने अद्वैत की व्याख्या बोलचाल की भाषा में इस तरह से की है जिसे बच्चे तक पूरी तरह से समझ सकते हैं। वे कहते हैं—

तुम हो सृष्टि
सृष्टि की असंख्य जीवों की, तुमने
हे ईश्वर !
तुम हो सृष्टि के साधक भी
सत्य, ज्ञान और आनन्द
तुम्हीं हो
भूत, वर्तमान और भविष्य
एक शब्द में
तुम सब में हो, सब तुम में
तुझसे भिन्न न कोई।

आत्मज्ञान शतकम्, उपनिषद् दर्शन का बहुत सुन्दर रूपान्तरण है। इसमें खंड-नात्मक पद्धति से बचा गया है और विभिन्न मत-मतान्तरों का समन्वय किया गया है। उपनिषदों के ऐसे सभी संदर्भ आज अपनी अर्थवत्ता भी खो बैठे हैं जिनको स्वामी जी ने सहज रूप से छोड़ दिया है और (उनके स्थान पर हमें) अपने रहस्यमयी अनुभव का आस्वाद दिया है। (इसी के माध्यम से) वे अद्वैत दर्शन को पाठक के समक्ष रखते हैं। पुस्तक का सार प्रस्तुत करना वस्तुतः अक्षम्य धृष्टता होगी।

इन पृष्ठों में मैंने श्री नारायण गुरू के दिव्य जीवन के प्रतिरूप को प्रस्तुत करने का वैसा ही प्रयत्न किया है जैसे ओस की एक बूंद आकाश की विशालता को मापने का प्रयत्न करती है। और, जैसे ओस की बूँद के लिए यह सम्भव नहीं है उसी तरह किसी प्रकार की क्षमा-याचना न तो माँगी ही गई है और न ही उसकी आवश्यकता है।